योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 सितम्बर, 1998 अंक 6

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) - 283202

SIDDHYOG

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

❐

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

❐

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

❐

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	7-00
वार्षिक शुल्क	रु०	70-00
द्विवार्षिक	रु०	130-00
आजीवन	रु०	700-00

इस अंक में

❐ न संदृशे तिष्ठति 1
❐ अमृत कण 2
❐ योगी का अन्तर्धान (विशेष लेख) 3
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज
❐ योगी जीवन के वरणीय मानदण्ड (सम्पादकीय) 8
❐ साधना क्यों और कैसे ?
प्रो. आचार्य चन्द्रहास शर्मा 10
❐ किमस्ति योगः
द्वारका प्रसाद शर्मा 13
❐ आत्मोत्सर्ग
पं. महेश बोहरे 17
❐ निष्काम कर्मयोग द्वारा ही सुख शान्ति सम्भव
स्वामी केशवाचार्य 21
❐ कर्म योग का मूल मन्त्र
संत आचार्य विनोबा भावे 24
❐ गीता का योग
श्रीमतिलाल राय 26
❐ गीता योगशास्त्र है
एक दीन 31
❐ सूर्य नमस्कार
डा० ऋषिराज वशिष्ट 37
❐ स्वामी विवेकानन्द ने कहा था.....

प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय, झाँसी का

वार्षिकोत्सव–योग सम्मेलन

एवम्

योगिराज अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज का

जन्मोत्सव समारोह

प्रभु श्री रामलाल संगीत महाविद्यालय, झाँसी द्वारा आयोजित २२वाँ बुन्देलखण्ड संगीत सम्मेलन / प्रतियोगिताएं / योग सम्मेलन एवं सद्गुरुदेव भगवान् का पावन जन्मोत्सव समारोह निम्नलिखित तिथियों में मनाया जायगा।

॥ कार्यक्रम ॥

दि० 28-29-30 सितम्बर एवं 1 अक्टूबर 1998	प्रातः 7-00 बजे से 10-30 बजे तक	गीता पाठ, श्री प्रभुजी की आरती, पूजन, संकीर्तन एवं योग सिद्धान्तों पर प्रवचन।
	सायं 6-00 बजे से रात्रि 9-30 बजे तक	संकीर्तन, आरती, पूजन एवं योग सिद्धान्तों पर प्रवचन।
दि० 28-29 सितम्बर 98	प्रातः 11-00 बजे से सायं 6-00 बजे तक	संगीत प्रतियोगिताएँ।
दि० 29 सितम्बर 1998	सायं 6-30 बजे	पारितोषिक वितरण।
दि० 30 सितम्बर एवं 1 अक्टूबर 1998	मध्याह्न 2-30 बजे से सायं 6-00 बजे तक	संगीत सम्मेलन।
दि० 1 अक्टूबर 1998	प्रातः 9-30 बजे से	परम पूज्य, परम करुणानिकेतन सद्गुरुदेव भगवान का जन्मोत्सव अभिषेक समारोह।

सभी आदरणीय भाई-बहिनों, जिज्ञासुओं एवं संगीत प्रेमियों से विनम्र निवेदन है कि सम्पूर्ण आयोजन में अधिक से अधिक संख्या में उपस्थित होकर कार्यक्रम को भव्यता प्रदान करें।

निवेदक :
श्री प्रभुजी का ही एक दीन बालक
कृष्णकान्त झा

स्थान—हीरा भवन
महारानी लक्ष्मीबाई व्यायाम मन्दिर, झाँसी

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 6	ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः। तत्प्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।	सितम्बर 1998

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा हृदिस्थं मनसा य एन–

मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/२०

अर्थात्

इस परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप दृष्टि के सामने नहीं ठहरता। इस परमात्मा को कोई भी आँखों से नहीं देख सकता। जो साधकजन इस हृदय में स्थित अन्तर्यामी परमेश्वर को भक्तियुक्त हृदय से तथा निर्मल मन के द्वारा इस प्रकार जान लेते हैं, वे अमृत स्वरूप अमर हो जाते हैं।

अमृत कण

—अथर्ववेद के प्राणसूक्त—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्व प्रतिष्ठितम्।।

जिसके अधीन यह सब संसार है, उस प्राण को नमस्कार है। जो प्राण सबका स्वामी है और जिसमें सब कुछ ठहरा है।

* * *

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते।।

हे प्राण ! शब्द रूपी तेरे लिए नमस्कार, गरजने वाले बादल रूपी तेरे लिए नमस्कार। हे प्राण ! विद्युत रूपी तुझ को नमस्कार। हे प्राण वर्षा रूपी तेरे लिए नमस्कार है।

* * *

प्राणः प्रजा अनुवस्ते पिता—पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणों ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न।।

प्राण सब प्रजाओं के पीछे रहता है, जैसे प्रिय पुत्र के पीछे पिता रहता है। जो कुछ जिन्दा है और जो नहीं उस सब का निश्चय से प्राण ही ईश्वर है।

* * *

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्।।

प्राण ही मृत्यु है, प्राणं ही सहनशक्ति है। सब देव—इन्द्रियाँ प्राण की ही उपासना करते हैं। निश्चय से प्राण ही सत्यवादी मनुष्य को उत्तम लोक में उत्तम अवस्था में धरता है।

* * *

प्राणो विराट प्राणो देष्टी प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहु प्रजापतिम्।।

प्राण ही विराट—विविध प्रकार का तेज है। प्राण ही मार्ग—दर्शक है, प्राण ही सूर्य और चन्द्र है प्राण को ही प्रजापति कहते है, इसलिए सभी प्राण की उपासना करते है।

* * *

विशेष लेख

योगी का अन्तर्धान

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने इस विषय को भली प्रकार से खोलकर समझाने का प्रयास किया है कि संयमित मन को योगी जहाँ लगाना चाहता है वहाँ लग जाया करता है और संयमित मन वाले योगी की बुद्धि सत्य परम निर्मल होने के नाते वह जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहता है उसका साक्षात्कार उसको संकल्पमात्र से ही हो जाया करता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि योगी के मन में इस बात का स्फुरण हो जाय कि मैं अमुक वस्तु को जानना चाहता हूँ। उस संकल्प के आधार पर ही वह योगी उस वस्तु तत्व को जान लेता है क्योंकि उसके मन में उस परम सद्गुरू का प्रकाश भरा रहता है। अत: जहाँ ज्योंही संकल्प का स्फुरण हुआ त्योंही योगी ने उसे तत्काल जान लिया। इससे पहले किसी लेख में परिचित ज्ञान के विषय में समझाया गया है। किन्तु इसमें खास बात यह थी कि योगी ने किसी के चित्तिमात्र चित्त को अपने संयम का लक्ष्य बनाया है। अत: उसे प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिशील चित्त का ही साक्षात्कार होगा न कि उस विषय का जिस विषय में वह साधक अनुरागी है। चित्त ज्ञान के संयम के आधार पर तो इतना ही जान पायेगा कि अमुक व्यक्ति का चित्त स्वरूप विशुद्ध सत्व स्वरूप है एवं दूसरे व्यक्ति का चित्तस्वरूप प्रवृत्तिरूप रजप्रधान है। इसके अतिरिक्त अमुक व्यक्ति का चित्त स्थितिरूप तम प्रधान है। केवलमात्र इतना ही उस समय योगी के संयम का विषय था।

इसके अतिरिक्त योगी यदि यह जानना चाहेगा कि अमुक साधक का चित्त किन क्रियाओं में क्रियान्वित है। एवं किन विषयों में अनुरागी है। यदि इस बात को योगी जानना चाहेगा तो वह उसके संयम का दूसरा विषय होगा। न कि चित्तिमात्र चित्त के ज्ञान से रंजित चित्त को जान सकेगा। इसके आगे के सूत्र में भगवान पतंजलि देव ने अन्तर्धान के विषय का वर्णन किया है। अन्तर्धान क्रिया के विषय में लोगों के मन में बहुत सी भ्रान्तियाँ हैं। कितने ही लोगों का विचार है कि अन्तर्धान होता ही नहीं। इस क्रिया को ही गप कहकर लोग अपने मन को उपराम कर लेते हैं। भारतवर्ष में अकर्मण्य लोगों का यह एक सिद्धान्त सा बन गया है कि जो विषय उनकी समझ में न आयें उसे अपनी मति के अनुसार निश्चय करके एवं उस सिद्धान्त को गलत बतलाकर छोड़ देते है यही बात योगी की अन्तर्धान क्रिया के विषय में भी समझ लेनी चाहिए। किन्तु वस्तुत: शास्त्रीय सिद्धान्त हमारे पूर्वजों की ऋतम्भरा प्रज्ञा का शुभ परिणाम है।

योगी संप्रज्ञात समाधि का अभ्यास करता हुआ वितर्कानुगत, विचारानुगत एवं आनन्दानुगत इन तीन श्रेणियों में से निकलकर जिस समय स्मितानुगत योग

का विद्यार्थी बनता है एवं निर्वाणोन्मुखी वृत्ति को प्राप्त करता है उस समय उस योगी की बुद्धि में ऋत का वास हो जाया करता है। जब तक साधक इन स्टेजों को तय नहीं कर लेता तब तक वह सिद्धान्त का निर्णायक नहीं हो सकता। किन्तु फिर भी लोक में यह देखने में आता है कि जिस किसी भी व्यक्ति ने थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली वही अपने आपको सब प्रकार से योग्य एवं सिद्धान्तों का निर्णायक समझ बैठता है। एवं अपने प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिशील चित्त के साथ लोगों को मार्गदर्शन कराने लगता है। अन्त में पहुँचता उसी लक्ष्य को है यथा—**'अन्धेन नीयमानो यथा अन्धः'** एक अन्धा दूसरे अन्धे की उंगली पकड़कर ले जाता है, रास्ते का ठीक ज्ञान, न इसको है न उसको। इसी प्रकार से जो लोग शास्त्रीय सिद्धान्तों को न समझ कर अपनी मति के अनुसार शास्त्र विरुद्ध गलत निर्णय दे देते हैं। वे लोग 'अन्धे नीयमानः यथा अन्धः' की उक्ति को चरितार्थ करते हैं। अन्तर्धान क्रिया के विषय में भगवान पंतजलि देव अपना सत्य निर्णय लिखते हैं—

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम्।

अर्थात् जिस समय योगी काया के रूप में संयम करता है तो वह उसकी ग्राह्यशक्ति को रोक लेता है। उसके परिणाम स्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश उसको नहीं छू पाता। इसके फलस्वरूप योगी अन्तर्धान हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी किसी को भी दिखाई नहीं देता। पढ़िये श्री व्यास देवजी के भाष्य का सार—

जिस समय योगी काया के रूप में संयम करता है तो अपने मन के दृढ़ संकल्प से उस रूप की ग्राह्यशक्ति को बाँध लेता है। उसके फलस्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश कायरूप की ग्राह्यशक्ति के स्तम्भित होने से उसके शरीर पर नहीं पड़ता है. ऐसा करने से योगी को अन्तर्धान प्राप्त हो जाता है। इस बात को स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि कृष्णपक्ष की काली अंधेरी रात्रि में कोई तेज पावर की बिजली का बल्ब जल रहा है। उस तेज रोशनी की ओर हमारी आँखें चटपट देख लेती हैं। और उसको देखकर साधक यह जान जाता है। यह बिजली का प्रकाश यहाँ से इतने मील की दूरी पर अमुक गाँव में हो रहा है। कहने वाला मनुष्य चटपट बड़े वेग के साथ कह देता है कि वह प्रकाश इतना तेज था कि उसकी झलक पड़ते ही हमारी आँखें उधर खिंच गई एवं उसको जान लेने की यह इच्छा प्रबल हो गयी कि हम जाने यह क्या वस्तु है। यह हुआ साधक का उस प्रकाश के प्रति चक्षुप्रकाश सम्प्रयोग। अर्थात् उस प्रकाश में इतनी अधिक ग्राह्यशक्ति है कि जिसने हमारी आँखों की रोशनी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। और हमारी आँखों ने उसको देख लिया। इसी प्रकार से यदि कोई व्यक्ति तेज रोशनी से जलने वाले उस विद्युत बल्ब को किसी काले कपड़े, मोमजामे या किसी ऐसी और वस्तु से कि जिससे ढक देने से उसका प्रकाश बाहर न जा सके, उसको ढक लें तो इसका परिणाम यह निकलेगा कि उसकी ग्राह्यशक्ति को रोक देने के कारण वह किसी को भी दिखाई नहीं देगा। यह तो एक उदाहरण

है, उदाहरण एकाधी हुआ करता है।

ग्राह्यशक्ति के स्तम्भन का अर्थ समझाने के लिए उदाहरणों के साथ ही उस विषय को स्पष्ट किया जाता है। एक मनुष्य तीव्र प्रकाश वाली टार्च के स्विच को दबा देता है। उसमें से प्रकाश निकलने लगता है। आँखों के अन्दर–अन्दर भी प्रकाश मौजूद है, आँखों का प्रकाश भी उस प्रकाश पर पड़ा और उसने जान लिया कि मार्ग साफ है। कदाचित् देखने वाले की आँखों में प्रकाश हो ही नही तो टार्च लाइट फेंकते रहो उसको कुछ भी दिखाई नहीं देगा। देखने वाले की आँखों में भी प्रकाश हो तभी टार्च की रोशनी दिखाई देगी। क्योंकि टार्च के अन्दर तो ग्राह्यशक्ति मौजूद है– किन्तु आँखों में प्रकाश न होने से नहीं देखा जा सकता है। इसी प्रकार अन्तर्धान क्रिया में जिस समय योगी धारणा के बल से काया के रूप में संयम करता है। तो अपने दृढ़ संकल्प से उस रूप की ग्राह्यशक्ति को स्तंभित कर लेता है, रोक लेता है। उसके फलस्वरूप देखने वाले की आँखों का प्रकाश उसके शरीर पर नहीं पड़ता। इसी के फलस्वरूप वह साधक वहाँ बैठा रहने पर भी किसी को दिखलाई नहीं देता। इसी का नाम अन्तर्धान क्रिया है। संयम सिद्ध योगी के लिए अन्तर्धान होना सहज–सी बात है। अन्तर्धान का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि योगी का शरीर नष्ट हो जाता है या कहीं चला जाता है। चला कहीं नहीं जाता वह मौजूद तो वहाँ पर रहता है किन्तु सर्व–साधारण की आँखों का प्रकाश उस पर नहीं पड़ता। इसके फलस्वरूप वह योगी वहाँ पर बैठा हुआ ही छिप जाता है। भगवान विश्वात्मा श्री कृष्ण के चरित्रों में यह बात कई जगहों पर पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि उन्होंने कई स्थानों पर, स्वयं अपने को अन्तर्हित किया और उनके मित्रों का समुदाय उनको ढूंढने की चेष्टा करता रहा किन्तु वह किसी को भी दृष्टिगोचर नहीं हुए। रासलीला का प्रकरण आप लोगों ने पढ़ा ही होगा। उसमें अन्तर्धान क्रिया को कितना स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया है। भगवान श्री कृष्ण ने रास क्रीड़ा आरम्भ कर दी। अपनी काय–निर्माण शक्ति से अपने हजारों शरीरों का निर्माण किया। जितनी गोपिकायें थीं उतने ही श्री कृष्ण तत्काल दिखाई देने लगे–

> **अङ्गनामङ्गनामन्तरोमाधवो,**
>
> **माधवं माधवमन्तरेणाङ्गना।**
>
> **इत्थमाकल्पिते मण्डलेमध्यगः**
>
> **संजगौ वेगुना देवकीनन्दनः।।**

अर्थात् एक–एक गोपी और एक–एक कृष्ण इस प्रकार मण्डलान्वित चक्र में हजारों गोपी और हजारों श्री कृष्ण दिखलाई दे रहे थे। इस प्रकार रासमण्डल आरम्भ हो जाने के बाद जब उन गोपियों के मन में कुछ अहंकृति के भाव पैदा हुए तो उन सबके देखते–देखते ही काया रूप में संयम करके रूप की ग्राह्यशक्ति को स्तम्भित करके श्री राधिकाओं को ले करके अन्तर्धान हो गये, जिसके फलस्वरूप ब्रजगोपियों ने बड़ा विलाप किया। थोड़ी दूर चलने पर श्री राधिकाजी को भी छोड़कर अन्तर्धान हो गये। परिणाम स्वरूप श्री राधिका जी एवं सभी ब्रजगोपियाँ बहुत व्याकुल हुईं। शरीर में अत्यंत दुःख हुआ तो भगवान उनके बीच में ही प्रकट हो गये–

तामामाविर्भूच्छौरी:

स्मयमान्मुखाम्बुज:।

पीताम्बर धर: श्रग्वी

साक्षान्मन्मथमन्मथ:।।

अर्थात् कामदेव को मथन करने वाले श्री कृष्ण पीताम्बर और माला पहने हुए उन सबके बीच ही प्रगट हो गये। यह था श्री कृष्ण का अन्तर्धान। समझने वाली बात केवलमात्र एक ही है—साधक की कोई क्रिया बड़े तीव्रतम् अभ्यास के बाद सिद्ध हो पाती है। एवं साधना के बल से ही साधक योगी उसको कर पाता है। किन्तु सिद्ध योगिराज एवं श्री कृष्ण जैसे अनादिकालीन महासिद्ध जब किसी क्रिया को करना चाहते हैं तो उनकी वह क्रिया उनके केवल चिन्तनमात्र से ही अनायास हो जाती है। उनको किसी प्रकार की किसी विशेष विधान पूर्वक कुछ साधना करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्युत उनके संकल्प में ही सकल शक्तियों का वास होता है। उनके चिन्तनमात्र से ही सब कार्य सिद्ध हो जाया करते हैं। श्री कृष्ण का यह उदाहरण ऐतिहासिक उदाहरण है। मैं इस लेख में इस समय के विद्यमान एक महापुरुष का उदाहरण दिये बिना नहीं रह सकता। यह महापुरुष बहुत बड़े उद्यमी और प्रतिष्ठा प्राप्त व्यक्ति हैं। एक सभा में वे गये हुए थे। आर्य समाज की स्टेज थी। अन्तर्धान क्रिया पर वहाँ विवेचना हुई। अन्तर्धान क्रिया को गलत कहा गया। यह महापुरुष भी वहाँ मौजूद थे। उस समय उनका नाम था लाला खुशहालचन्द खुरन्दि। मेरे विचार में सभी शिष्ट व्यक्ति लाला खुशहाल चन्द खुरन्दि को जानते हैं। यह लाहौर के रहने वाले हैं उन दिनों 'मिलाप' अखबार के एडीटर थे। इनसे पूछा गया अन्तर्धान क्रिया के विषय में आपका क्या विचार है।

महात्मा खुशहालचन्द खुरन्दि चुप रहे। बार–बार पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया—इस विषय में मैं अभी कुछ नहीं कह सकता। जब तक साधना के आधार पर या किसी अनुभवी व्यक्ति द्वारा मैं इस क्रिया को स्वय देख न लूं।" उस दिन की उस स्टेज पर योग के दो सिद्धान्तों का खण्डन किया गया था। पहला विषय था योगी अन्तर्धान नहीं हो सकता। दूसरा विषय था योगी का आसन जमीन से ऊपर नहीं उठ सकता। क्योंकि मनुष्य के शरीर का सम्बन्ध पृथ्वी से अधिक है। पृथ्वी इसको अपनी ओर आकर्षित किये रहती है। मिट्टी के ढेले को आकाश में यदि फेंका जाये तो वह आकाश में न रहकर पृथ्वी पर लौटकर गिरता है। आदि–आदि बातें बिना अनुभव की वहाँ एक उपदेशक ने कही। दोनों ही विषयों के सम्बन्ध में श्री खुरन्दि जी से प्रश्न किया गया कि इस विषय में आप अपना मत बताइये। महात्मा खुशहालचन्द ने स्पष्ट उत्तर दिया कि मैं तब तक इस विषय में कुछ नहीं कह सकता जब तक कि मैं स्वयं ना जान लूं। महात्मा खुशहालचन्द अन्तर्धान क्रिया को देखने व जानने के लिए अति इच्छुक रहे। साधक तीव्रतम तपस्या एवं स्वाध्याय के बल से इष्टदेव के दर्शन करता है। ऋषि मुनि–देवता लोग उसके आँखों के सामने आया करते हैं। इसी सिद्धान्त को रख करके लाला खुशहालचन्द खुरन्दि ने तीव्रतम् तपस्या एवं स्वाध्याय को करना आरम्भ कर दिया। समय आने पर इन्होंने संन्यास लिया और अब यह महात्मा आनंद स्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं। समय आने पर श्री आनद स्वामी ने

कैलाश मान सरोवर आदि की यात्रा की उसी यात्रा के संदर्भ में इनको एक सिद्ध योगिराज के दर्शन प्राप्त हुए। यह योगिराज रात के तीन बजे के लगभग इनके सामने प्रकट हुए। इनके मस्तक में विभूति लगाकर दीक्षा–दीक्षा शब्द कहकर अन्तर्धान हो गये।

महात्मा आनंद स्वामी का यह पहला अवसर था जबकि इन्होंने अपनी तपश्चर्या एवं स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप इस प्रकार एक महापुरुष के दर्शन प्राप्त किये और अन्तर्धान क्रिया को भी आँखों के सामने देख लिया। किन्तु इनकी लगन अब और दृढ़वती हो गई। यह अपने अभ्यास में बैठ गये। सूर्योदय होने के बाद इन्होंने वहाँ के वाशिन्दे पहाड़ी लोगों से पूछा कि क्या इस क्षेत्र में कोई सिद्ध योगीराज महात्मा निवास करते हैं ? उन लोगों ने उत्तर दिया– हाँ ! यहाँ से दो–तीन मील की दूरी पर एक महात्मा निवास करते हैं। यह महात्मा गुफा में रहते हैं। इनकी गुफा के सामने लगभग दो सौ तीन सौ मन का पत्थर लगा रहता है जिसको कोई हटा नहीं सकता। कभी–कभी जब वह महात्मा निकलते हैं तो अपने आप उस पत्थर को हटाया करते हैं। और कोई सांसरिक व्यक्ति उनके सामने जाय तो उसको पत्थरों से ही मारते हैं। महात्मा आनन्द स्वामी ने दृढ़ विचार किया और महात्मा के दर्शनार्थ गुफा पर पहुंचे। इनके पहुँचते ही उस महात्मा ने पत्थर हटा दिया। महात्मा आनंद स्वामी अन्दर गये तो इनको देखकर बड़ा हर्ष हुआ। क्योंकि वह यही महापुरुष थे जो रात के तीन बजे दर्शन देकर एवं विभूति लगाकर दीक्षा दे आये थे। महात्मा आनंद स्वामी ने उनके सामने अपने दोनों प्रश्न रखे– क्या योगी का आसन जमीन से ऊपर उठ जाया करता है ? योगी ने उत्तर दिया– हाँ ! मेरा आसन जमीन से ऊपर उठ जाता है। महात्मा आनंद स्वामी ने कहा– क्या मैं इसको देखने का अधिकारी हूँ। महात्मा ने उत्तर दिया– हाँ ! तुम अधिकारी हो, मैंने ही तुम्हें बुलाया है, तुम गौर के साथ देख लो मेरा आसन जमीन से ऊपर कैसे उठता है। यह कहकर वह महात्मा पद्मासन लगाकर बैठ गये, भस्त्रिका प्राणायाम आरम्भ हुआ। शनैःशनैः शरीर में कम्पन एवं कम्पन के बाद दादुरी वृत्ति हुई। इसके फलस्वरूप वे शनैःशनैः जमीन से ऊपर उठने लगे एवं थोड़ी ही देर के बाद उनका सिर गुफा की छत से जाकर लग गया। योगीराज आकाश में निराधार ठहरे रहे एवं थोड़ी देर के बाद शनैःशनैः पूर्ववत् जमीन पर आकर बैठ गये।

महात्मा आनन्द स्वामी ने पूछा यह क्रिया आपको कितने वर्ष में सिद्ध हो पायी है। उन्होंने उत्तर दिया कि यह मेरे उन्नीस वर्ष के अभ्यास का परिणाम है। इसी प्रकार से श्री आनंद स्वामी ने उन्हीं महात्मा से पुनः अन्तर्धान क्रिया को देखा। अन्य बहुत–सी बातचीत करने के पश्चात् वे पुनः अपने स्थान को लौटा।

इस प्रकार से आनंद स्वामी ने योग की इन अलौकिक क्रियाओं को स्वयं देखा तथा स्वयं ही अनुभव किया था।

* * *

सम्पादकीय

योगी जीवन के वरणीय मानदण्ड

श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ पुरुष के जो लक्षण बताये हैं, अथवा कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और दैवी सम्पदा वालों के जो लक्षण बताये हैं वे सभी तो योगी जीवन के वरणीय मानदण्डों की सीमा में आते हैं। आइये विचार करें हम पहले स्थितप्रज्ञ के लक्षणों पर–

द्वितीय अध्याय में भगवान अर्जुन को निमित्त बनाकर स्पष्टता से सारे विश्व के मनुष्य शरीरधारी उस व्यक्ति को जो आध्यात्मिक जीवन जीने की इच्छा रखता है और जिसे पुनर्जन्म की नहीं, मोक्षपद पाने की कुछ भी चाहना है उसे पहले स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को अपने जीवन व्यवहार में उतारने का अभ्यास करना चाहिए। आइये सुनें हम भगवान के इस उद्बोधन को जिसे उन्होंने अपने शब्दों में इस रूप में व्यक्त किया है :–

प्रजहाति यदा
कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः
स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

गीता २/५५

अर्थात् हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में समायी हुई सब कामनाओं को निकालकर बाहर कर देता है, और परमात्मा तत्व के चिन्तन में ही सन्तुष्ट रहता है तब वह स्थित प्रज्ञ कहलाने लगता है।

आचार्य बालकोबा भावे ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस रूप में प्रकट किये हैं :

प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी इच्छा से युक्त है। इच्छा और वासना के दो वर्ग हैं– एक शुद्ध वर्ग और दूसरा अशुद्ध वर्ग। इन दो वर्गों में तीन प्रकार है–सत्व, रज और तम। शुद्ध वर्ग में सत्व की गणना होती है और अशुद्ध वर्ग में रज और तम की। रजोगुणी और तमोगुणी वासनाएँ, इच्छाएँ छोड़ना पड़ता है, क्योंकि उनसे अवनति होती है। रजोगुणात्मक और तमोगुणात्मक वासनाओं को छोड़ने के लिए शुरू में सात्विक वासना या इच्छा रखनी होती है।

चाय की आदत छुड़वाने के लिए गेहूँ की कॉफी या तुलसी का काढ़ा पिलाना पड़ता है। सब बातें क्रमानुसार करनी पड़ती हैं, तभी सफलता मिलती है। मनुष्य में तरह–तरह की जो कामनाएँ रहती हैं, उनमें शुद्ध और अशुद्ध दो वर्ग करके अशुद्ध वासनाओं के राजसिक और तामसिक स्वरूपों को ठीक–ठीक समझकर तथा शुद्ध यानि सात्विक वासनाओं को रखकर राजसिक, तामसिक, वासनाओं का त्याग करने की कोशिश करनी

चाहिए। इसके अतिरिक्त सुख और दुःख को समान स्तर पर तथा उनके सही रूप को जान लेने का प्रयत्न भी साधक को करना चाहिए। यथा:—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।

गीता २/५६

अर्थात्, जिस मनुष्य का दुःख प्राप्त होने पर मन दुःखी, उद्विग्न नहीं होता और सुख प्राप्त होने पर जिसे सुख की चाह नहीं रहती, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, उसे स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है।।

प्रत्येक मनुष्य दुःख नहीं सुख चाहता है। एक धनी आदमी कहा करते थे—"मेरे पास धन है लेकिन सुख नहीं।" उनसे पूछा गया— "धन तो सुख का साधन माना गया है और धन होते हुए भी आपको सुख नहीं मिलता, इसका क्या कारण है ?" उन्होंने जवाब दिया— "मेरी पत्नी, मेरे लड़के कहे अनुसार नहीं चलते। मेरा बड़ा आग्रह रहता है कि घर में या दूकान में मेरी चले। लड़के छोटे बड़े हो गये हैं, मेरी सुनते ही नहीं। यह दुःख कैसे मिटे, यह बताइये।"

विचार करने पर मालूम होगा कि उनका आग्रही स्वभाव ही इस दुःख का कारण बना है सिद्धान्त विषयक आग्रह तो समझ में आने जैसी बात है। लेकिन प्रत्येक बात में जिसका आग्रही स्वभाव रहता है, उसे दुःख के सिवाय और किस का अनुभव आयेगा ? ऐसे आग्रह में अहंकार की प्रबलता ही रहती है।

दुःख नाना प्रकार के होते हैं, लेकिन उनके तीन मोटे विभाग होते हैं १. आधिभौतिक, २. आधिदैविक, ३. आध्यात्मिक। इनमें आधिभौतिक दुःख यानि सृष्टि में दिखाई देने वाले शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्धात्मक पाँच महाभौतिक पदार्थों के साथ हमारा जो नित्य सम्बन्ध आता है उनमें से पैदा होने वाला दुःख। भूकम्प, अनावृष्टि आदि कारणों से पैदा होने वाले दुःख को आधिदैविक कहते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों के अलावा अनुभव परक दुःखों को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं।

बाह्य रीति से दुःख टालने का सुगम उपाय यही है कि अपनी जरूरतें कम की जायें। बाह्य सुख प्राप्त करने की दृष्टि में हम वैभवशाली साधन बढ़ाते जाते हैं। लेकिन ऐसी आदतें अन्त में दुःखदायी साबित होती हैं। इस प्रकार संक्षेप में योगी के जीवन के मानदण्डों को समझकर और जानकर उन्हें अपने आचरण में उतारने का निरन्तर प्रयास करते रहना चाहिए। योग साधक के लिए किसी भी अभ्यास या क्रिया का नियम पूर्वक निरन्तर अभ्यास करना साधक को सिद्धि प्राप्ति में सहायक हुआ करता है। आज के अपने इस आलेख में स्थित–प्रज्ञ बनने के लिए जिन मानदण्डों को अपनाने का आग्रह हम साधकों से कर रहे हैं, योगिराज श्री कृष्ण के शब्दों में इस प्रकार हैं :—

(१) प्रत्येक प्रकार की मन में समायी हुई कामनाओं का परित्याग करना। एवं

(२) दुःख प्राप्ति में जिसे ज्ञानपूर्वक संयम से निवारण करने के प्रयत्न का अभ्यास और सुख प्राप्ति की लालसाओं का त्याग करना।

* * *

साधना क्यों और कैसे ?

प्रो. आचार्य चन्द्रहास शर्मा, दिल्ली

समस्त जीव कालचक्र में घूम रहे हैं काल के दो रूप है— आकुंचन और प्रसारण, प्रलय और सृष्टि, उदय तथा अस्त होना। कालराज्य में माया और अविद्या जीव के शुद्ध स्वरूप को अज्ञान से ढके रहते हैं। इसे ही शैव—दर्शन में पाँच कंचुक कहा गया है। कंचुक का अर्थ— साँप की केंचुली के समान समझना चाहिये। इस अवस्था में अविद्याजन्य **'अहम्'** और **'इदम्'** यह द्वैत ज्ञान अविद्या की आवरण और विक्षेप शक्ति से हुआ करता है। **'मैं'** और **'मेरा'** यह कर्तत्वाभिमान तथा 'अह' और 'इसका' यह भोक्ताभाव जीव के साथ लगा रहता है। ज्ञान की यह बाह्य दशा का बोध चित्त को विषयी बनाकर माया के पाँच कञ्चुकों—काल, कला, नियति, विद्या और राग से बाँधकर जीव को सुख—दुःख का भोक्ता और संसारी बना देती है। यद्यपि आत्मा ज्ञान स्वरूप है तथापि चित्त के संयोग से बाह्य ज्ञेय विषयों की ओर प्रवृति होने के कारण यह मुक्त आत्मा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी के बन्धन में आ जाता है। चैतन्य आत्मा चित्त से तादात्म्य कर अपने को ज्ञाता मान कर सीमाओं में बंध जाता है।

जीव की अल्पज्ञता ही बन्धन है और सर्वज्ञता ही मुक्ति है। जब चित्त दृश्य ज्ञेय से हटकर बाह्यवृतियों को अन्तर्मुखी बनाता है तो सर्वज्ञ ईश्वर के साथ मंत्रजप द्वारा ईश्वर की भावना करते हुए ध्यान क्रिया द्वारा तादात्म्य स्थापित करता हुआ यही अल्पज्ञ जीव शुद्ध विद्या के क्षेत्र में घुसकर सर्वज्ञ होकर अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों से मुक्त हो जाता है शिव—सूत्र में सिद्ध गुरु को बताया गया है। ऐसे गुरु ही योगिराज कहलाने के अधिकारी हैं। जिस किसी को योगिराज कह भले ही लें। उनसे बन्धनमुक्ति का कार्य नहीं हो सकता। जैसे **'कहन धतूरे सों कनक, गहनो गढ़यो न जाय'** कनक का अर्थ धतूरा भी है और सोना भी। कोई व्यक्ति धतूरे को कनक नाम से पुकारने लगे तो उससे आभूषण नहीं बन सकेंगे। वे तो स्वर्ण से ही सम्भव हैं।

शिवसूत्र का सिद्धान्त है कि **'शुद्ध विद्योदयाच्चक्रे सत्वसिद्धिः'**—अर्थात् जिस योगिराज में शुद्ध विद्या का उदय हो जाता है उसमें ब्रह्माण्डरूपी ब्रह्मचक्र के ऐश्वर्य की सिद्धि आ जाती है। वह अपनी इच्छानुसार अनेक शरीर धारण कर सकता है। जैसा कि शिव—सूत्र **'शक्ति संधाने शरीरोत्पत्तिः॥'** १९॥ तथा **'निर्माण चित्तानि अस्मिता मात्रात्**। योगदर्शन (४) में प्रतिपादित सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है। शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ ही वास्तव में योगी होता है। उसके अन्दर पंचमहाभूतों पर जय करने की सामर्थ्य आ जाती है ऐसा योगी पंचभूतों को इकट्ठा कर स्वशरीर और दूसरों के शरीर में परिवर्तन करने की ताकतवाला होता है। वह बाह्य दृश्य जगत में भी परिवर्तन कर सकता है। भूतों का पृथकत्व और संघटन करने की शक्ति उसमें स्वाभाविक

रूप से रहने लगती है जैसा कि बीसवें शिवसूत्र में निर्दिष्ट है देखिये— **'भूतसंधान, भूतपृथकत्व—भूत संघट्ट:।'** इस स्थिति को प्राप्त योगी कुण्डलिनी जागरण कराने में सक्षम है। आनन्दकन्द योगेश्वर श्री प्रभुजी (दादागुरु) तथा श्री सद्गुरुदेव इसी कोटि के योगिराज हैं। उनके साथ श्री श्री १००८ न भी लिखा जाय तो भी वे जो हैं, सो हैं। अन्य कोई कूपमण्डूक चाहे अपने पहले और पीछे कितने ही विशेषण लगा ले। वह यदि संसारी है तो वह जो है सो ही रहेगा। उससे महान कार्य कैसे हो सकते हैं ? उसमें वैसी सामर्थ्य तब तक नहीं आ सकती जब तक उसने स्वयं अपने तीनों मल—माया—मल, आणव—मल और कर्तव्य—भोक्तृत्व मल धोकर कला, चित्त और शरीर को शाम्भवोपाय द्वारा रूपान्तरित नहीं कर लेता। उसके द्वारा जब चक्रबेधन की साधना पूर्ण होगी तभी रूपान्तरण का कार्य—भूतजय, समाधि का—जाग्रत—स्वप्न सुषुप्ति में निरन्तर अनुभव आदि घटित होंगे। शिव—सूत्र में इसका संकेत किया गया है—

'शक्ति चक्र संधाने विश्व संहार:' ६।। जब चक्र बेधन सम्पन्न हो जाता है तो संसार की माया उसका कुछ नहीं बिगाड़ पाती। उसके लिए संसार का विनाश हो जाता है। संसार उसी प्रकार उसके व्यवहार में रहता है जैसे सर्प की केंचली मात्र/जो देखने में सर्प जैसी लगती है किन्तु वास्तव में उसकी केंचुल ही होती है जिसे समाधि का अलौकिक आनन्द मिल जाता है उसे लोक में भी सर्वत्र आनन्द का अनुभव होता है। उसे विषयरस फीके लगने लगते हैं। **'जो तोहि राम लागते नीके, तो षट्रस, विषयरस सब हो जाते फीके।'** **'जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो, क्यों करील रस भावै।'** जिस भौंरे को कमल का रस मिल गया हो वह करील के काँटों में अपना सिर क्यों मारेगा। जिसने खुद तैरना नहीं सीखा वह यदि दूसरों को तैरने का उपाय सिखाने लगेगा तो दोनों के डूबने में संदेह होने की गुंजायश नहीं है। योग के महत्व के कारण आजकल विश्व के रंगमंच पर ऐसे ही योगिराजों का अवतार हो रहा है। जिन्हें धारणा तक तो सिद्ध नहीं है और दूसरों की कुण्डलिनी जगाने का दावा करते हैं। एक पत्थर की शिला दूसरी शिला को नदी पार कराने का दम्भ कर रही है ? इसके लिये जीवन भर की तपस्या चाहिये और अविकम्प गुरुभक्ति ! तब जाकर उसमें स्वयं मंत्र जागरण होकर मंत्र चैतन्य गुरुशक्ति क्रियाशील होगी। जब योगाभ्यासी अपने को कुएं के मेढक के स्थान पर महासमुद्र की अनन्तता में विलीन कर देता है तो व्यष्टि चित्त, का रूपान्तरण समष्टि चित्त में होता है। जिसे **'महत्तत्व'** कहते हैं। जिसमें देश काल की सीमाओं का अभाव होता है। समष्टि चित्त का चिदाकाश जब महाकाश में लय होता है तो मंत्र की शक्ति का प्रतिक्षण अनुभव होता है। शिव—सूत्र में इस रहस्य का संकेत मिलता है। **'महाह्रदानुसंधानात् मंत्र वीर्यानुभव:।'** मंत्र की शक्ति वस्तुत: महत्तत्व में विलीन अवस्था में चित्त की ही शक्ति है। वह जब तक प्राप्त नहीं है। तब तक चेला—चेली बनाकर गुरु बनना उसी प्रकार है जैसे नाटक में पुरुष, स्त्री का वेश बदलकर स्त्री की भूमिका में हाव—भाव दिखाकर मनोरंजन तो कर देता है। उसमें स्त्री की भांति पुत्र जनने की सामर्थ्य नहीं आ सकती।

कर्त्तापने का अहंकार यदि गुरु में आ जाय तो समझना चाहिये कि वह मायावी है। क्योंकि माया के

दायरे में जब तक जीव रहता है तब तक उसमें कर्तापने का अहंकार उसे अज्ञान के गर्त की ओर ही ले जायेगा। माया से पीछा छूटे तो जीव महामाया के राज्य में प्रवेश पाता है। महामाया को ही तंत्रों में बिन्दु कहा गया है उसी को चिदाकाश या कुण्डलिनी शक्ति कहा है। जो विश्व का आधार है और स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर में प्राण का सूत्र है। जो वास्तव में सद्गुरु कोटि के हैं वे इस महामाया के राज्य में विचरण करते हैं और शुद्ध विद्या का आश्रय लेकर मुमुक्षु (संसार बंधन से छूटने की इच्छा करने वालों को) जीवों को शक्तिपात द्वारा चैतन्य शक्ति की गोद में सौंप देते हैं जिससे कर्तव्य क्रिया जीव की न रहकर उस परमेश्वरी शक्ति की हो जाती है। जैसे रेलगाड़ी में बैठा स्वयं नहीं चलता। चलती रेलगाड़ी है किन्तु लक्ष्य पर बैठा हुआ यात्री पहुंचता है उसी प्रकार जब तक कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर क्रियाशील नहीं होती तब तक साधक मूर्तिपूजा, व्रत, तीर्थ आदि बाह्य क्रियाओं में मरता–खपता रहता है और एक दिन इस परिश्रम की थकावट का अनुभव कर इन बाह्य क्रियाओं से मुख मोड़ने लगता है। ये क्रियायें माया के राज्य की ही क्रियायें हैं। जिस दिन जीवन की शुभ घड़ी आती है और साधक किसी सिद्ध गुरु की चरण–शरण ग्रहण कर लेता है, उसी दिन से वह सिद्धयोग का विद्यार्थी बन जाता है। श्री सद्गुरु की कृपा शक्ति शरणागत जीव को उसकी बिन्दुशक्ति को क्षुब्ध कर शुद्ध ज्ञान से विभूषित कर (दीक्षा देकर) मायिक जगत से शनैः शनैः उन्नत करती हुई महामाया के साम्राज्य में उसका राजतिलक कर उसे नया जन्म देती है। तब जीव शुद्ध विद्या (मंत्र स्फुरण) के सहारे मंत्रभूमि से ईश्वर प्रणिधान की क्रिया द्वारा सदाशिव का सायुज्य प्राप्त करता है। शुद्धविद्या में विमलज्ञान और कुण्डलिनी की क्रियायें दोनों साथ–साथ काम करते हैं भगवान शिव में सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व इसी शुद्धविद्या के मिश्रितरूप का ही प्रभाव है। भगवान शिव महामाया के अधिष्ठाता हैं। इसीलिए भगवान शिव योगियों के उपास्य हैं। उनको और श्री सद्गुरु को एकरूप मानकर जब तक जीव शरणागत नहीं होता तब तक आवागमन चलता रहता है। शरणागत स्थिति तभी हो पाती है जब उसके हृदय में सद्गुरुतत्व और शिवतत्व का साक्षात्कार हो जाय। साक्षात्कार होने पर उसकी बुद्धि में यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि कर्तापना मेरे अन्दर नहीं है यह तो सद्गुरु सत्ता तथा श्री सदाशिव सत्ता का कार्य है। ये सत्तायें दो प्रतीत होती हुई भी वास्तव में अभिन्नरूप से एक ही हैं। करने वाला मैं नहीं हूं, ईश्वर है यह भाव जब तक दृढ़ नहीं होता तब तक माया के बन्धन उसे आगे के राज्य में जाने से रोकते रहते हैं। जीव जब तक अपने को कर्ता मानता रहता है तब तक कर्तव्य शक्ति उसे क्रिया में प्रवृत्त करती रहती और कर्मफल तैयार कर उसको सुख–दुःख मोहात्मक भोग के दलदल में उसे फँसायें रहती है। जीवात्मा कला कंचुक के आधीन होने से अपने अन्दर से कर्ता भाव दूर करने में स्वयं असमर्थ है। इसलिए आवश्यक है कि ईश्वर का साक्षात्कार ध्यान और समाधिद्वारा कर यह समझ कि सब कुछ करने की सामर्थ्य केवल ईश्वर में ही है। ऐसा समझने से कर्म तथा कर्मफल ईश्वरार्पण करता चले।

* * *

किमस्ति योग:

रचयिता : द्वारकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ।

अब तक लिखी गई द्वादश श्रृंखलाओं में जिस रीति से मैंने जिज्ञासु पाठकों के समक्ष 'किमस्ति योग:' शीर्षक के माध्यम से योगसूत्रों के आधार पर व्याख्या करने का प्रयास किया है, उसी क्रम में यह अगली तेरहवीं कड़ी सुधी पाठकों के लिये प्रस्तुत कर रहा हूँ। इस कड़ी में मात्र एक ही सूत्र पर अवलम्बित श्लोकों की रचना तथा उनका भावार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। वह सूत्र है–

क्लेश मूल: कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय:।

(१) **ध्यात्वा सद्गुरोश्चरणौ, तयोरेव प्रसादत:।**
योगदर्शन सूत्रस्य, व्याख्यानं कर्तुमारभे।।

सद्गुरूचरणों का मैं ध्यान करता हूँ जिनके कृपा प्रसाद से योगदर्शन के सूत्र की व्याख्या मैं आरम्भ कर रहा हूँ।

(२) **कर्माशय: मूलत: क्लेशकारी, प्रख्यापितो भगवता मुनिना स्वसूत्रे**
योग्य: स दृष्टे जनुपि स्वकीये, वाऽन्येवु देहेषु हि सन्त्यदृष्टा:।।

क्लेश ही जिसकी जड़ है, ऐसा कर्माशय दृष्ट (वर्तमान) अदृष्ट (भविष्य में होने वाले) जन्मों से भोगा जाता है।

(३) **प्राग्वर्णिता: पंचसंख्यात क्लेशा:, संस्कार रूपाश्च भवन्ति कर्मणाम्।**
त एवं संस्कार स्वरूप मास्थिता:, संज्ञापिता:, स्युर्निज कर्मवासना:।।

पहले बतलाये गये पांच क्लेश ही कर्म संस्कारों की जड़ हैं। इसी को कर्माशय या कर्मवासना कहते हैं।

(४) **विद्यन्ते चेतसि सदा, संस्कारा: क्लेशकर्षिता:।**
तस्मादेव प्रजायन्ते, सहकाम कर्मोद्भव:।।

चित्त में क्लेशों के संस्कार रहते हैं। उनसे सकाम कर्म पैदा होते हैं।

(५) रजोगुणं बिना काचित्, क्रिया नैवानुवर्तते।
रजस्तमोभ्यां युक्ताभ्यां, प्रवृत्ति धर्म कर्मसु।।

रजोगुण बिना क्रिया असम्भव है। रजस् और तमस् गुणों का सम्मिश्रण होने से धर्मादिक कार्यों में प्रवृत्ति हुआ करती है।

ऐश्वर्यादिक चेष्टासु यतते च ततो नरः।।
तमसस्तु गुणाधिक्ये, अधर्म्यें वृत्तिमालमेव।।

(रजस् तमस् गुणों के सम्मिश्रण से) ऐश्वर्य के कामों में एवं जब तमोगुण का मिश्रण अधिक होता है तो अज्ञान अधर्म आदि कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

(६) त्रयोगुणा यदा युक्ताः, धर्म्याधर्म्यवोर्द्वयोः।
नरः प्रवृत्ति माप्नोति, तादृक्ष्वेव हि कर्मसु।।

जब तीनों गुणों का मिश्रण होता है तब दोनों प्रकार के धर्म तथा अधर्म के कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति रहा करती है।

(७) एतान्येव तु कर्माणि, संशितानि तदा च वै।
शुभाशुभे पापपुण्ये, मिश्रिते द्वे प्रकार के।।

यही कर्म शुभ–अशुभ, पाप–पुण्य मिश्रित होते हैं।

(८) एतदेवानुरूपञ्च, फलं भुंक्ते तु मानवः।
बीजरूपेण संस्कारः, अथत्तत्कर्मवासना।।

इन्हीं के अनुरूप फल भोगने के संस्कार जो बीज के रूप से हैं, वही कर्माशय (कर्मवासना) है।

(९) पुण्योपेता वासना यास्च या वै, देवोपमा ददाति तास्तु सुखानि पुंसः।
पापान्विता यास्च भवन्ति वासनाः, यच्छन्ति दुःखानि समानि पशुभिः।।

पुण्य कर्माशय देवताओं के समान भोग देते हैं। पाप कर्माशय पशु–पक्षी, कीट पतंगादि के समान भोग देते हैं।

(१०) पापेन पुण्येन समन्वितानि, यान्येव कर्माणि तथाऽपराणि।
भोगाः प्रयच्छन्ति तथैव तादृशाः, दृग्गोचरा ये तु मनुष्य योनिषु।।

पाप–पुण्य मिश्रित जो कर्म हुआ करते हैं वे मनुष्यों को समान भोग देते हैं।

(११) कर्माशयस्य निर्माणे, देहो हेतुर्न जायते।
न तथैवेन्द्रियाणि च, मनोवृत्तिस्तु हेतुकः।।

कर्माशयों को जन्म देने वाले शरीर और इन्द्रियाँ नहीं बल्कि मनोवृत्ति है।

(१२) मनसो वृत्तिभिश्चैव, शरीरमिन्द्रियाणि च।
क्रियाशीलत्वमायान्ति, संस्कारा वासनागताः।।

मन की वृत्तियों की प्रेरणा से शरीर और इन्द्रियाँ क्रियाशील होती हैं। इसी की वासनाओं से संस्कार पड़ते हैं।

(१३) मनसो वृत्तयो याश्च, असंख्याताश्च ताश्च वै।
तथैव फलभुक्तौ च, संस्कारा नैकधास्तथा।।

मनोवृत्तियां अगणित हैं और फल भोगने से संस्कार भी अगणित हैं।

(१४) वासनाः प्रभवन्ति हि, मनसो याश्च वृत्तयः।
कर्माणि प्रभवन्युत वै, वासनाभ्योऽनुजी विधिः।।

मनोवृत्तिरूप कर्मों से वासनायें और उन्हीं वासनाओं से कर्म उत्पन्न होते हैं।

(१५) अक्षुण्णं क्रममेतद्वै, चलतीह निरन्तरम्।
तावदेवावधिर्यावत्, बीजं नाशं न याति तत्।।

यह क्रम निरन्तर तब तक चलता रहता है। जब तक उसका थोड़ा सा भी बीज शेष रहता है।

(१६) कर्माशयस्तु द्विविधः, दृष्टादृष्टौ प्रकारकौ।
दृष्टसतु जन्मनी हैव, अदृष्टोऽपर जन्मसु।।

कर्माशय दो प्रकार का है– (१) दृष्ट जन्म वेदनीय–जो वर्तमान जन्म में जाना जाय, (२) अदृष्ट जन्म वेदनीय – जो दूसरे जन्म में जाना जाय।

(१७) कर्माणि कानिचित् सन्ति, सिद्धयन्तेऽत्रैव जन्मनि।
देवसिद्धार्चनैस्तीवैः कृतैः संस्तवनादिभिः।।

कुछ कर्म ऐसे हैं जो तीव्र वेग योग से मन्त्र तन्त्र और समाधियों से आचरित ईश्वर देवता सिद्ध पुरुषों की आराधना से सिद्ध होते हैं।

(१८) फलं शीघ्रं प्रयच्छन्ति, तथैवात्र पराणि च।
हिंसाधिक्यात्तु क्लेशाद्दै, तान्यपि फलदानि वै।।

ये शीघ्र फल देते हैं। और जो कर्म तीव्र क्लेश से तथा हिंसादि दोनों को दुःख पहुँचाने से होते हैं, वे भी शीघ्र फल देते हैं।

(१९) अत्युत्कटानि कर्माणि, शुभानि वाऽशुभानि वै।
फलन्ति जन्मनि निजे, स्वर्ग नरक दानि च।।

अत्युत्कट शुभाशुभ कर्मों का फल इसी जन्म में मिलता है। जिन कर्मों से स्वर्ग–नरक की प्राप्ति होती है वे,

(२०) अपरस्मिन्नेव जन्मनि, फलदानि भवन्ति वै।
अदृष्टान्येव यानीह, वेषान्यन्येषु जन्मसु।।

अन्य जन्मों में फल दायी हुआ करते हैं। उनका फल इस जन्म में नहीं मिलता है। वे अदृष्ट जन्म वेदनीय हैं।

(२१) कर्माशयो यादृगिह, कुरुते क्लेश एव हि।
अन्येषु जन्मसु तथा, सर्वथा क्लेशदायकः।।

यह कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दुःखदायी है, उसी प्रकार अन्य जन्मों में भी दुःख वे क्लेशदायक है।

(२२) श्रीमद्गुरुणां कृपया प्रसादितः, व्याख्यायितःसर्व इवोपरिष्टः।
न मैऽस्ति किंचित् क्व च मन्दधीरहं, प्रणम्य चरणौ विरमामि जय गुरो।

सद्गुरुदेव की कृपाप्रसादवश ही उपरिलिखित सब व्याख्यादित हुआ है। इसमें मेरा कुछ नहीं है। कहाँ मैं मन्दमति, अतः गुरुदेव की जय बोलता हुआ मैं यहीं विराम करता हूँ।

आत्मोत्सर्ग

पं० महेश नोटर

नाभिकुण्ड गतिमान होने से जो ऊर्जा उत्पन्न होकर हृदयस्थल को स्पंदित करती हुई ब्रह्मरंध्र तक पहुंचती है तथा नाभिकुण्ड से ब्रह्मरंध्र आवस्थित इस ऊर्जा का जब अंतर्मुखी होकर आंतरिक दृष्टि से स्तवन, चिंतन, मनन, भजन एवं ध्यान के द्वारा सतत् अध्ययन किया जाता है तब ही हमारे जीवन में आत्मोत्सर्ग हेतु दिशा निर्धारण की स्थिति उत्पन्न होती है। हमारे नाभिकुण्ड से ब्रह्म रंध्र में ऊर्जा का उत्सर्ग, ठीक उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार किसी जलकुण्ड में पत्थर फेंकने पर उसके अंदर समाहित ऊर्जा, बुल–बुला बनकर ऊपर आ जाती है। हमारे नाभिकुण्ड में भी ऊर्जा का अपार भंडार उसी प्रकार से है जिस प्रकार समुद्र में असंख्य रत्नों का भण्डारण। किंतु रत्नाकर में गर्भस्थ रत्न जिस प्रकार अनुसंधान एवं उत्सर्ग के बिना व्यर्थ है ठीक उसी प्रकार हमारे नाभिकुंड में अंतर्निहित अपार ऊर्जा भी अनुसंधान एवं उत्सर्ग के बिना शून्यवत ही है।

सृष्टि संरचना में, पशु–पक्षी, कीट–पतंगे, पेड़–पौधे सभी में नैसर्गिक जीवन तत्व एवं आत्म संचरण निहित है, किंतु इनके नैसर्गिक जीवन तत्व में मानसिक विकास की वह शक्ति निहित नहीं है जो मानव संरचना में अंतर्निहित है, जिसे विकसित करके माँनव, महात्मा और परमात्मा की स्थिति प्राप्त करने में समर्थ है। यह दुर्लभ मानव शरीर धारण करके भी जिनके आत्मोत्सर्ग एव मानसिक विकास की गति शून्य है, वे मानव–तनधारी, जड़बुद्धि, पशुता ग्रसित अधमाधम पाशविक जीवन व्यतीत करते हैं, इसीलिये तो यह कहा गया है कि:—

येषां न विद्या, तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं, गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुविभार भूता, मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति।।

अर्थात् जो मनुष्य–तन धारण करके भी विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील गुण एवं धर्महीन बने हुए हैं, वे इस मृत्युलोक में पृथ्वी के लिये भार स्वरूप होकर मनुष्य के रूप में पशुता, ग्रसित लक्ष्यहीन भटक ही रहे हैं।

जो व्यक्ति अपने जीवन में नाभिकुंड से ऊर्जा उत्सर्ग करके ब्रह्मरंध्र को जाग्रत करता है वह अपनी इस अध्यात्मशीलता के द्वारा आत्मा से महात्मा तथा महात्मा से परमात्मा की गति को प्राप्त करता है, अध्यात्म की भाषा में यही आत्मोत्सर्ग की स्थिति है जब नाभिकुंड से ऊर्जा उत्सर्ग करके ब्रह्मरंध्र जागृत किया जाता है, तभी अध्यात्म चिंतन के द्वारा परमात्मा के ध्यानावस्थित होने की स्थिति उत्पन्न होती है, यही ब्रह्म–ज्ञान

और ब्रह्म–विद्या है, जिसमें आत्म अध्ययन एवं परमात्म चिंतन निहित है, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता अध्याय १० में अर्जुन से यही कहा है कि विधाओं में अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्म–विद्या, ब्रह्म–ज्ञान मैं ही हूं :—

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन,।

अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ *गीता १०/३२*

जो व्यक्ति सतत श्रद्धा, समर्पण एवं एकाग्रता के साथ अध्यात्म चिंतन अर्थात् ब्रह्म–विद्या का अभ्यास करता रहता है, उसे परमब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति होती है, यह ध्रुव सत्य है। योगीराज भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को पूर्ण आश्वस्त करते हुए कहा है कि:—

अभ्यास योगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्त्यन॥ *गीता ८/८*

ब्रह्मरंध्र जागृत करके शनैःशनैः अध्यात्म चिंतन के द्वारा जो ब्रह्मविद्या का सतत् अभ्यास करता रहता है, उस ब्रह्मज्ञानी की उपासना सार्थक होकर वह योगी पुरुष उस परम ब्रह्म परमेश्वर को अत्यंत प्रिय होता है, अर्जुन की जिज्ञासा को शांत करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने यही कहा है—

मैयावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः॥ *गीता १२/२*

किंतु अध्यात्म चिंतन में ब्रह्म–ज्ञान की प्राप्ति तभी संभव है जब शुद्ध अंतःकरण के साथ आत्मावलोकन करते हुए श्रद्धा समर्पण एवं पूर्ण एकाग्रता के साथ स्तवन, चिंतन, मनन, भजन एवं ध्यान किया जावे, क्योंकि आत्मा का तात्विक बोध ही तो परमात्मा तक पहुंचने के लिये अग्रसर करता है। जो आत्मविमुख है, जिनका अंतःकरण दूषित बना हुआ है, उन्हें प्रयत्न करने पर भी जीवन में आत्म–ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो पाती है, वे अगन से ग्रसित होकर लक्ष्यहीन ही भटकते रहते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्म–ज्ञान की शिक्षा देते हुए कहा है कि:—

यतन्तो योगिनश्चैनं, पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।

यतन्तो अप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥ *गीता १५/११*

अर्थात् आत्मोत्सर्ग के लिये प्रयत्नशील योगी, आत्मा को तात्विक रूप से जान लेता है, किंतु जो मनुष्य आत्म–ज्ञान के तात्विक रहस्य से वंचित है, वह वृथा दंभ, द्वेष, अहंकार, क्रोध ईर्ष्या, कटुता, हिंसा निर्दयता आदि दुराचरणों से ग्रसित पाशविक जीवन व्यतीत करते हुए आत्म पतन कर लेता है आसुरी स्वभाव वाले ऐसे व्यक्ति में न तो आत्मिक रूप से बाहर भीतर की शुद्धि होती है और न उसमें वाणी व्यवहार की ही शुद्धता रहती है, ऐसे लोग सतत् क्रूरकर्मी होकर विजय भोगों में लगे रहते हैं, भगवान श्रीकृष्ण ने गीता अध्याय १६ में अर्जुन को ऐसे ही क्रूरकर्मी आसुरी लोगों के जन्मजन्मांतर जीवन की अधमाधम गति को दर्शाते हुए विस्तृत रूप से उपदेषित किया है कि:—

दम्भो दर्पो अभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्
पूर्वातत च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।। गीता १६/७
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम्।। गीता १६/८
एतां दृष्टिमवटभ्य नष्टात्मानो अल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतो अहिताः।। गीता १६/९
काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वा सद्ग्राहान्प्रवर्तन्ते अशुचिव्रताः।। गीता १६/१०
चिंतामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।। गीता १६/११
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः,
ईहन्ते काम भोगार्थमन्यायेनार्थ संचयान।। गीता १६/१२
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।। गीता १६/१३
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरो अहमहं भोगी सिद्धो अहं बलवान्सुखी।। गीता १६/१४

भगवान श्रीकृष्ण ने नराधमों के बारे में अर्जुन को अत्यंत ही विस्तार पूर्वक वर्णन करते हुए आगे और बताया है कि जिनके मन में दूसरों के प्रति द्वेष, कपट तथा शत्रुता के भाव रहते हैं तथा जो स्वयं को परम श्रेष्ठ सत्तावान, शक्तिशाली, सुखसमृद्धियुक्त सिद्ध एवं स्वंभू होने का प्रदर्शन करते हैं और स्वयं को अत्यंत धनी कुटुम्ब–परिवार वाला मानकर दान–धर्म आदि करने की बड़ी–बड़ी डींग मारते हैं, वे आत्मज्ञान से हीन मोह–माया से भ्रमित, काम–वासना में आसक्त व्यक्ति असुराचरण के परिणामस्वरूप घोर नरकगामी होते हैं, इसीलिये गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेशित करते हुए व्यक्त किया है कि:–

आत्मसंभविताः स्तब्धा धनमान मदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधि पूर्वकम्।। गीता १६/१७

अहंकारं बलं दर्पम् कामं क्रोधं च संश्रिता:।
मामात्म पर देहेषु प्रतिष्ठान्तो अभ्यसूयका।। गीता १६/१८

तानहं द्विषत: क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुर ष्विव योनिषु। गीता १६/१९

आसुरीं योनिमापन्न मूढा जन्मनि जन्मनि।
माम–प्राप्येव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। गीता १६/२०

इस प्रकार लौकिक जीवन में भोग–वासना में लिप्त होकर जिनका अन्त:करण कलुषित हो चुका है, वे आत्म–पतित, आत्म कल्याण नहीं कर सके हैं इसलिये उनसे लोक–कल्याण की अपेक्षा करना तो व्यर्थ ही है। जिन्होंने न तो आत्म कल्याण किया है और न लोक–कल्याण ही किया है, वे अधमाधम गति के पात्र होकर कई जन्मों तक आसुरी योनियों के भोगों को भोगते रहते हैं।

जिसने इस लौकिक जीवन में अध्यात्म चिंतन के द्वारा आत्मज्ञान के तात्विक महत्व को समझा है, शुद्ध अंत:करण में समर्पण एवं श्रद्धाभाव सहित जिसने आत्मोत्सर्ग करके परमब्रह्म परमेश्वर की पावन चरण–शरण प्राप्त की है, उसे परम–शांति एवं परम–धाम का पावन उपहार स्वयं परमपिता परमेश्वर द्वारा प्रदान किया जाता है, उसके आत्मोत्सर्ग के द्वारा जन्मजन्मांतर के सभी दुष्कृत्यों का विनाश होकर उसे परम मोक्ष की गति प्राप्त होती है। इस हेतु भक्त वत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने सप्रतिज्ञ स्वयं को आबद्ध करते हुए अर्जुन को आश्वस्त करने के लिये संकल्पभाव में व्यक्त किया है कि:–

तमेव शरणं गच्छसर्व भावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। गीता १८/६२

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामेवैऽयसि सत्यं से प्रतिजा ने प्रियोअसि में।। गीता १८/६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।। गीता १८/६६

''श्रीकृष्ण: शरणम् मम्''

निष्काम कर्मयोग द्वारा ही सुख शान्ति सम्भव

डा. स्वामी केशवाचार्य, चान्दोद (बड़ौदा)

जगत में कुछ लोग कहा करते हैं—कि जीवन में अनुकूलता बनी रहे हम यही चाहते हैं। ऐसा पूर्ण तथा सम्भव नही। कुछ लोग कहा करते कि प्रतिकूलता ही बनी रहे, तो ऐसा भी सम्भव नहीं। अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों आयेंगे। किसी कार्य की सफलता में पाँच हेतु हैं और किसी कार्य की असफलता में पाँच हेतु हैं।

''अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। १८/१४

ये कार्य की सफलता में पाँच हेतु हैं। अधिष्ठान अच्छा होना चाहिये। कर्ता अच्छा होना चाहिये। कर्म अच्छे होने चाहिये। विविध चेष्टाऐं अच्छी होनी चाहिये। और उसके बाद दैव का भी आशय होना चाहिये। बस फिर कार्य की सफलता अवश्य है। और फिर कार्य की असफलता में भी यही पाँच हेतु हैं। यदि अधिष्ठान बिगड़ गया, कर्ता बिगड़ गया, कर्म बिगड़ गया, पदक्चेष्ठाऐं बिगड़ गयीं, और दैव रूठ गया तो कार्य की असफलता है। अब विचार किया जा सकता है कि यहाँ कहीं लिखा है कि कर्म हम करते हैं। कर्म तो प्रभु कराते हैं। इसीलिए भगवान ने कहा कि—

''त्रिभिर्गुणमयी भावी रेभिः सर्वमिदं जगत।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्या परमव्ययम्।।

भगवान ने कहा अर्जुन हमने तीनों गुणों से युक्त यह संसार बनाया है। इसलिए इस संसार में मोहित हो जाते हैं दुनियाँ के लोग मुझे नहीं जान पाते हैं। अब प्रश्न उठता है कि मोहित क्यों हो जाते हैं। तो लहरों से मोहित होना स्वाभाविक है। और वो लहरें ही हमारे जीवन में भी लहरें पैदा करती हैं। काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर ये लहर यह पतन की ओर ले जाती हैं। सत्य, विवेक, सदाचार, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह सब उत्थान की ओर ले जाती है। तो लहरें दोनों हैं। एक लहर उत्थान का काम करती है और एक लहर पतन का काम करती है। जब रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता हो जाती है, तब मनुष्य का पतन प्रारम्भ हो जाता है। और जब सतोगुण की लहर दौड़ती है, तो मनुष्य का उत्थान प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए मनुष्य भ्रष्ट कैसे होता है इसके भी साधन भगवान ने गीता में बताए हैं। मनुष्य का पतन आठ तरह से होता है—

''ध्यायतो विषयान्पुंसः संङ्गस्तेषूपजायते।

संङ्गातसंजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते'' ।। २/६२

''क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद बुद्धि नाशो बुद्धि नाशात्प्रणश्यति'' ।। २/६३

पहले मनुष्य विषयों का ध्यान करता है और जैसा ध्यान करता है, वैसा ही मन में उतार—चढ़ाव आता है। और जिसका ध्यान करेगा उसके प्रति आसक्ति होना स्वाभाविक है उसका संग प्राप्त करना स्वाभाविक है और जब वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है तब इच्छा का हनन होता है और इच्छा के हनन का ही नाम क्रोध है। और जब मनुष्य के अन्दर क्रोध आता है। तब वह नहीं सोच पाता है कि मैं किस पर क्रोध कर रहा हूं, कहां क्रोध कर रहा हूं और क्यों क्रोध कर रहा हूं। अर्थात् तीनों स्थितियां उसकी बिगड़ जाती हैं और उससे विवेक नष्ट हो जाता है। विवेक से स्मृति का नाश हो जाता है। और बुद्धि के नाश होने से लक्ष्य भ्रष्ट हो जाता है। इसलिए श्री गीता जी में भगवान ने कितना सुन्दर कर्म योग का वर्णन किया है। यदि हम अपना उत्थान चाहते है तो संसारी पदार्थों की प्राप्ति का नाम उत्थान नहीं है। संसार की पदार्थों की प्राप्ति का नाम आसक्ति और ममता है और यही आसक्ति और ममता जब तक बढ़ती रहेगी, तब तक मनुष्य अशान्त ही होता रहेगा। लेकिन यदि वह अपनी साधना करता है। तो ममता को समता में बदलने पर उसके लिए उन्नति प्रारम्भ हो जाती है। जैसे ममता लिखा जाता है वैसे ही समता लिखा जाता है अन्तर केवल इतना है कि 'म' की नीचे की रेखा बढ़ा देने से समता हो जाता है। नीचे की रेखा मिटा देने से ममता हो जाता है। जब कोई व्यक्ति अपने परिवार की सेवा अहंकार पूर्वक करता है, आसक्ति पूर्वक करता है, मोह पूर्वक करता है तो उसका नाम ममता होता है। जब वही व्यक्ति परिवार की सेवा कर्तव्य बुद्धि से करता है, भगवान की सेवा समझ कर करता है अनासक्ति पूर्वक करता है, तब उसका नाम समता होता है इसलिए श्री गीता जी में कहा गया कि **''समत्वं योग मुच्यते''**।।

समता ही सच्चा योग है। अब प्रश्न उठ सकता है कि समता ही सच्चा योग है तो यह समत्व क्या है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि समत्व ही ब्रह्म का बोधक है। और यह सद्गुरु कृपा के द्वारा निष्काम कर्मयोग के द्वारा ही समझ में आ सकता है। यदि कहीं ममता का अर्थ बराबर लगा लिया गया तो कभी गीता समझ में आ नहीं सकती है। इसलिए भगवान के अन्यान्य नामों में एक उनका नाम है, **''समः सर्वः भूतानाम्''**।। **''समः सर्वानि भूतानि''** **''सम ब्रह्मेतिविजानीयात्''** सम माने ब्रह्म का वाचक। परन्तु गीता तब समझ में आयेगी जब सम का अर्थ ब्रह्म से लगाया जाय। कहीं भी देखा जाय—

''विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी।

शुनि चैव चपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।५।।

विद्या विनय से सुसम्पन्नीत ब्राह्मण समदर्शी होता है। गौ, हाथी, चाण्डाल, गधा, श्वान इन सब में वह समदर्शन माने क्या बराबर देखता है नहीं ब्रह्म का दर्शन करता है। इसलिए गीता जी में जहां सम शब्द का

प्रयोग हुआ है उन सम का मतलब ब्रह्म है। इसलिए ''समत्वं योग मुच्यते''। कार्य की सफलता और असफलता में यदि मन का नियन्त्रण समत्व में स्थित है तो समझना चाहिये कि यही कर्म योग है। और जहाँ समता होती है वहाँ विषमता हो नहीं सकती। व्यवहार में विषमता रह सकती है और परमार्थ में समता रहेगी। आज के लोग व्यवहार में समता का दर्शन करना चाहते हैं। इसीलिए सभी कार्य बिगड़ जाते हैं जैसे पनिहारिन की एक वृत्ति घड़े में लगी रहती है और अन्य वृत्तियों से कार्य करती है, पैरों से चलती है। आँखों से रास्ता देखती है मुख से बातचीत करती है इतना सब कुछ होते हुए भी एक वृत्ति उसके घड़े के सुरत में लगी है। इसलिए तीन–तीन घड़े सिर पर रखे हुए नहीं गिरते हैं।

नट खेल दिखाता है—यदि उनकी वृत्ति योगमय न हो तो नट कभी रस्सी पर चढ़ नहीं सकता है। यदि धनुषबाण बेधन करने वाला कोई व्यक्ति अपने लक्ष्य में चूक जाता है तो निशाना कभी लगा नहीं सकता है यदि व्यावहारिक कार्य करना है तो व्यावहारिक कार्य में अन्दर समत्व रखना होगा और बाहर व्यवहार का कार्य करना होगा। इसलिए भगवान ने कहा अर्जुन यदि तुम्हें कर्म करना है तो समत्व में स्थित रहकर कर्म करो इसलिए बताया —

''योगस्थः कुरु कर्मानि''॥

योग में स्थित रहकर कर्म करो। यही श्री गीता जी का निष्काम कर्म योग है इसलिए मैं कर्म करता हूँ यह अभिमान नहीं करना चाहिये। दूसरी बात कर्म का फल भगवान को सौंप देना चाहिये। क्योंकि कर्म भी प्रभु का है कर्म फल भी प्रभु का है। श्री गीता जी में भगवान ने कहा है कि :—

''यत्करोषि यदश्वासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥९/२६

हे कौन्तेय! तुम जो भी कर रहे हो, जो भी खाते पीते हो, जो होम करते हो दान, पुण्य, जप तप देखना सुनना सब मुझे ही अर्पण कर 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यं मेव समर्पितम्'' साधक को चाहिये कि प्रभु की दी हुई सम्पूर्ण सम्पत्ति प्रभु के ही श्री चरणों में समर्पित कर देनी चाहिये। यही भक्ति योग भी है। आज मनुष्य प्रतिपल यह समझता है कि यह कर्म मैं कर रहा हूँ। कर्त्ता मैं हूँ। यह सम्पत्ति मेरी है। इसका मालिक मैं हूँ। मनुष्य यह सब बात समझ कर परमात्मा को भूल जाता है। सद्गुरु को भूल जाता है। जिसके निष्काम कर्मयोग, भक्ति योग, ज्ञान योग ये सभी रास्ते भूल कर जीवन नष्ट कर लेते हैं। इतने के बाद भी जीवन में अनुकूलता की खोज होती है जो सर्वथा असम्भव सा है। यदि जीवन में अनुकूलता लानी हो, शान्ति लानी हो, सुखी जीवन व्यतीत करना हो तो योग में स्थित रहते हुए समस्त कर्मों का सम्पादन करें तभी जीवन धन्य हो सकता है और योग में स्थित रहने का ज्ञान सद्गुरुदेव से ही प्राप्त हो सकता है।

''बिन गुरु होय कि ज्ञान, ज्ञान कि होय बिराग बिन
गावहि बेद पुराण सुख कि लहई हरि भगति बिन''॥

श्रीमद्गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज ने श्रीमद् 'राम चरित मानस' के उत्तर काण्ड में लिखा है बिना सद्गुरु के कुछ भी सम्भव नहीं है। अस्तु।

* * *

कर्म योग का मूल मन्त्र

(संत आचार्य विनोबा भावे)

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

(ईशोपनिषद् २)

इस लोक में ईश्वराराधनपूर्वक कर्म करते हुए सौ वर्षों तक जीने की कामना करनी चाहिये। तुझ देहवान् के लिये इससे भिन्न मार्ग नहीं है। इससे आत्मा में कर्म संसक्त नहीं होता। वासना चिपकती है। कर्म जड़ पदार्थ है, अत: उसमें लेप—कर्तृत्व नहीं हो सकता। लेप होता है, चेतन में। उसकी वासना या इच्छा— फलेच्छा की आसक्ति से; आसक्ति न हो तो मनुष्य में आसक्ति क्यों कर हो ? परधनाकांक्षा पापवृत्ति है। उसके विरुद्ध सेवा या कर्मनिष्ठा की वृत्ति है। इस मन्त्र का पूर्व एवं प्रधान मन्त्र से भी प्रयोजन है। सर्वत्र ईश्वरबुद्ध्या आकांक्षा, अभिलाषा, इच्छा न होने पर कर्तव्य—बुद्ध्या कर्म करते जाना निष्काम—कर्मयोग की साधना है।

'कुर्वन् एव जिजीविषेत्' (ईश्वराराधनपूर्वक कर्म करते हुए ही जीये) कर्मयोग ही जीवन है, ऐसा श्रुति सूचित करती है। इस लोक में ऐहिक जीवन का पारमार्थिक दृष्टि से भी मूल्य है; क्योंकि ऐहिक जीवन परमार्थ की एक कसौटी है। जिसका ऐहिक जीवन पावन नहीं है, उसके पारलौकिकता क्या पूछें ? अगला मन्त्र इसका विवरण करता है, पर सभी दृष्टियों से प्रधानता है प्रथम मन्त्र की ही।

'जिजीविषेत् शतं समा:'—ईश्वराराधनपूर्वक कर्म—योग—निष्ठा से परस्पर सेवा—भावना से मानव समाज शतजीवी हो, ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। कोई बिल्कुल परिश्रम न करे और उससे दूसरों पर अत्यधिक भार पड़े—इससे दोनों की ही आयु का क्षय होता रहता है। जैसे नींबू का सैकड़ा १२० का, पत्तलें का ११२ का और नाम—स्मरण का १०८ का मानते हैं, उसी तरह आयुमनिका सैकड़ा ११६ वर्षों का मानें—ऐसी शिक्षा श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस ऋषिद्वारा दी गयी छान्दोग्योपनिषद् (३/१६) में आती है। उस योजना में पहले २४ वर्ष अध्ययन के, बीच के ४४ वर्ष कर्म योग के और अन्त के ४८ वर्ष चिन्तन के माने गये हैं। गौतमादि के धर्मशास्त्र आश्रम—विभाग—व्यवस्था से इसे ही स्पष्ट करते हैं।

'त्वयि'—माँ जैसे बच्चे को तूकार से संबोधन कर आज्ञा देती है, वैसे ही इस मन्त्र में तथा इसके पहले के मन्त्रों में श्रुति ने हमें प्रत्यक्ष आज्ञाएं दी हैं। सहज ही ऐसे वचन अन्य सामान्य बोध देने वाले वचनों से अधिक बलवान् माने जाते हैं।

'इत:' (यहाँ से) संसार में रहते हुए। संसार में होते हुए कर्म योग के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है; क्योंकि—

'न कर्म लिप्यते नरे'—कर्म मनुष्य से चिपक नहीं सकता। यह एक महान् सिद्धान्त है। कर्म जड़ है, मनुष्य चेतन। मनुष्य से वह कैसे चिपके। मनुष्य यदि स्वयं उसे चिपका ले, तो बात अलग है। (मनुष्य में वासना होती है, अतः वह उसे चिपका देती है। वासना न हो तो कर्म न चिपके। यही है—'न कर्म लिप्यते नरे' का तात्पर्य।)

'नरे'—नयतीति नरः'—इस व्युत्पत्ति से नर शब्द नेतृत्व—सूचक माना है। मनुष्य कर्म का नेता है, कर्म को वह अनुशासित करने वाला है। कर्म उसे क्या बाँध सकता है ? भगवान् ने कहा ही है—'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' (द्रष्टव्य—गीता ४/१४)। तो फिर अन्य नर भी उसी का अनुभव लें। भगवान् का ठीक तात्पर्य अगले पाद में है—'न मे कर्मफले स्पृहा।' स्पृहा ही लेप का मूल कारण है।

'प्रस्तुत मन्त्र की कर्मनिष्ठा की विधि क्या ज्ञानी पुरुष पर लागू होती है ? इस विषय में ब्रह्मसूत्र में तात्त्विक चर्चा को उठाया गया है। निर्णय दिया है कि विधि के नाते खास ज्ञानी पुरुष के लिये यह नहीं कहा गया है। सामान्यतया सभी के लिये कहा है। ज्ञानी पुरुष उसके अनुसार चले तो उसे कोई बाधा नहीं। उलटे उससे उसके ज्ञान का एक प्रकार से गौरव ही है; क्योंकि उसकी कर्मनिर्लेप—स्थिति उससे सम्भवतः अधिक ही शोभा पायेगी' (ब्रह्मसू० अ० ३/४/१३—१४)। ऐसे ही ज्ञानियों से लोक—संग्रह का आदर्श प्राप्त कर संसार कर्मयोग के मार्ग पर अग्रसर होता है। गीता के कर्मयोग का स्मरण कराने वाला, गीता से पहले का इतना स्पष्ट वचन कोई दूसरा नहीं पाया जाता। अतः कर्म यदि कोई निष्काम कर्मयोग निष्ठा का वैदिक मूल मन्त्र दीखता है तो यही —'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'

* * *

कर्म साधन और ईश्वरप्राप्ति साध्य

प्रकृति का धर्म है कि वह तुमसे कर्म करा ही लेती है, चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है, तब कर्म पूरी तरह से क्यों न किया जाय ? कर्म अवश्य करो, परंतु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्त भाव से किया गया कर्म ईश्वर प्राप्ति का साधन है। अनासक्त कर्म को साधन और ईश्वर—प्राप्ति को साध्य वस्तु समझो।

—श्री रामकृष्ण परमहंस

गीता का योग

श्री मतिलाल राय

जो बात लाखों प्रमाणों तथा अनुभूति की सहायता से निश्चित हो चुकी है उसे अस्वीकार कर नये सिरे से नया अनुसन्धान करना साहस का काम तो कहा जा सकता है; पर हम लोगों की आयु बहुत थोडी है। चारों ओर घूम–फिरकर यदि उसी सनातन प्राप्त वस्तु को अन्त में सबको स्वीकार कर लेना पड़ेगा तब तो जीव की इतनी सब चेष्टाएं एक प्रकार से व्यर्थ ही हुई। वस्तु प्राप्त करने की चेष्टा और प्राप्त वस्तु का आश्रय लेकर जीवन की अभिव्यक्ति–इन दोनों में समय का सद्व्यवहार कहाँ अधिक होता है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं। किन्तु दुर्भाग्य है हम लोगों का–यदि सरल मार्ग से ही हम अभीष्ट वस्तु पा जायें तो फिर आज तेली के बैल की तरह घानी में क्यों चक्कर काटें ? यह अभाव और गर्दन पर जो पराधीनता का जुआ है– ये दोनों हमारे समष्टि जीवन की अवस्था का दिग्दर्शन कराते है। सात समुद्र, तेरह नदी पार करके जिस तरह हमारे ऊपर एक अन्य जाति शासन करती है, उसी तरह इन सात समुद्र, तेरह नदियों का जल पीकर हम लोगों को अपनी वस्तु प्राप्त करनी होगी– आज हम लोग अपने गड्ढी के जल में डूब रहे हैं !

गीता, उपनिषद्, वेद, वेदान्त, तन्त्र, पुराण इन सबको हम लोगों ने रद्द कर दिया था। उस दिन एक विद्वान् सज्जन ने मुझसे कहा– 'क्या आप उडरफ साहब के महानिर्वाण तन्त्र का अनुवाद कर सकते है ?' मैने विस्मित होकर उत्तर दिया–'वह तो महानिर्वाणतंत्र का हूबहू अनुवाद है।' उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ कहा– 'सचमुच ?' इसी से मालूम होता है कि आजकल हम लोग दुनिया की खाक छानकर तब अपना घर पहचानते हैं। सौभाग्यशाली पुरुष वही है जिसने उसे पहचान लिया है। हाथ घुमाकर नाक पकड़ने का अभ्यास करते–करते हमारी अवस्था ऐसी हो गयी है कि 'नाक दिखाओ' कहने पर हम यन्त्र की तरह हाथ चारों ओर घुमाकर नाकपर रखते है; परन्तु नाक वस्तु क्या है, वह मानो भूल गये है। लोग यह सुनकर हँसेंगे; पर वास्तव में अवस्था ऐसी ही हो गयी है। 'डागमैटिक' हो गया है गाली। पर सनातन सिद्धान्त को आत्मज्ञानी कैसे छोडे? और इस छोडने के सम्मोहन–मन्त्र से विमूढ़ होने के कारण ही तो हमारी जाति नष्ट हो रही है। पुराण में वर्णन है–एक दैत्य निष्ठा के साथ वैदिक आचरण करता था, जिससे उसके ऐश्वर्य और प्रभाव की सीमा नहीं थी; किन्तु देवताओं की माया से उसने दिव्याचार के बदले भिन्नाचार ग्रहण कर लिया और इससे वह हतवीर्य हो गया। भारत का मेरुदण्ड टूट गया है आत्मधर्म के प्रति आस्थाहीन होने के कारण। ऐसा क्यों हुआ, इसका विचार करना आज का विषय नहीं; अतएव इसे ईश्वर का विधानमात्र मानकर ही अब मूल प्रसंग पर आता हूं।

श्रुति में एक कथा है– **'देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।'** देव की अर्थात् स्वयं प्रकाश आत्मा की शक्ति निजगुण में गुप्त है। गुण से मतलब है– सत्त्व, रज, तम–प्रकृति इसी कारण गुणमयी है। सृष्टि के आदि

में इस प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व का निश्चय करना सम्भव नहीं, तथा भारत के ज्ञान–विज्ञान की साधना इस प्रकृति–तत्व का आश्रय करके ही सिद्ध हुई,–तन्त्रादि प्रकृति को मूल में रखकर बने ही हैं। वेदान्त की साधना में प्रकृति के ऊपर पुरुष के अस्तित्व का अनुभव करने की युक्ति है; वह युक्ति कहाँ तक अनुभवगम्य हुई है, यह विचारणीय है। परन्तु साधन नाम से शक्ति की साधना ही इस देश में प्रसिद्ध हुई है।

तीनों गुणों की साम्यावस्था में सृष्टि स्तब्ध, विमूढ़ रहती है; यह कोई नयी बात नहीं। विषमता ही चाञ्चल्य एवं गति का लक्षण है– इसी से जगत् की सृष्टि हुई है। प्रकृति ही शक्ति है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसकी शक्ति है, किसलिये है ? इसी कारण प्रकृति के पीछे भी किसी तत्व के अस्तित्व का अनुमान करना पड़ता है, यह अनुमान–लब्ध वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, प्रमाण–सिद्ध नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है, वह नश्वर, अस्थिर है– इसी कारण जो आँखों से अगोचर है, उसकी व्याख्या हमने सर्वगत, स्थाणु, अचल आदि अनेक नामों के द्वारा की है; उसे इस समय आलोचना से अलग रखकर जहाँ तक सम्भव होगा, मैं अपने विषय पर अग्रसर होने की चेष्टा करूँगा। हम लोग गुण भेद से प्रकाश भेद देख सकते हैं। सत्वगुण ज्ञान प्रकट करता है, अहं वस्तु की स्वच्छता उससे प्रस्फुटित होती है, **'अहमज्ञो मामहं न जानामि'** इस प्रकार की चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतना से ही देह है। देह से प्राण भिन्न है। प्राण से मन, मन से बुद्धि इत्यादि भिन्न हैं। **'अहम्'** और **'इदम्'** भेद–ज्ञान पैदा करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होने पर मीमांसा की वाणी भी उच्चारित होती है। अहं–वृत्ति ही विज्ञान है; इदं–वृत्ति ही मन है। हमारा अन्तःकरण दो भागों में विभक्त है—मन को घेरकर जो चेतना–जगत् है उसे 'इदम्' कहते हैं, और चिद्घन चेतना का जो दूसरा अंश है, उसे 'अहम्' कहते हैं। जो नित्य शाश्वत है, वह आत्मा नाम से प्रसिद्ध है; विशुद्ध सत्वगुण के प्रभाव से इस प्रकार आत्मप्रकाश विश्लेषित होता है। इस सत्वगुण के आधिक्य के कारण ही प्रकृति से महत्–तत्व की सृष्टि होती है।

सृष्टि की बात स्थूल रूप से समझे बिना योग की बात स्पष्ट समझ में नहीं आती, अतएव सूचना के लिये संक्षेप में सृष्टि रहस्य का सूत्र बतलाया जा रहा है। प्रकृति से महत् उत्पन्न हुआ। महत् देशकाल से अनवच्छिन्न होने के कारण सर्वव्यापी है गीता के शब्दों में—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भ दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।

महत्–रूप ब्रह्म योनि में जगद् विस्तार के लिये गर्भाधान स्थान निरूपित होने पर वह अनिर्देश्य पुरुष स्वयं चिदाभास रूप में अपने को उसमें नियोग करते हैं और उससे सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति से महत् और फिर एक के बाद एक सब तत्वों की सृष्टि होती है। प्रकृति ही सृष्टि करती है; इसलिये इसको ईश्वर नामक वस्तु का कारण–शरीर कहा गया है। सत्व का प्रकाश–गुण, रज का शक्ति–गुण और तमका आवरण–गुण, ये त्रिगुण मिलकर सृष्टि के पर्याय बन गये हैं। पर्याय भेद से माया और अविद्यारूप में यह द्विविध है। समष्टिशरीराभिमानी जो चैतन्यवृत्ति है, वह माया है, इसी को हिन्दूशास्त्रों ने ईश्वर या हिरण्यगर्भ नाम प्रदान किया है। और मिश्रित गुण के सहयोग से जो विचित्र, जड़वत् सृष्टि है, उसका व्यष्टिसिद्ध शरीराभिमानी

जीव या तैजस नाम से वर्णन किया गया है। मूल माया गुणों के आश्रय से आठ प्रकार की है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं से भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

—भूमि प्रभृति से पञ्चगन्धादि तन्मात्राओं का समन्वय समझना चाहिये; मन, उसका कारण अहंकार; बुद्धि, उसका कारण महत्—तत्व; अहंकार, उसका कारण अविद्या। इनके साथ सोलह प्रकार के विकार मिलकर चौबीस तत्व संयुक्त इस विश्व की सृष्टि हुई है। सीधे तौर पर यदि यह बात कही जाय, एक—एक करके प्रकृति से तत्व और उनकी विकृति बतलायी जाय तो इस प्रकार होगा—प्रकृति से महत्, महत् से बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, चक्षु, नासिका, जिह्वा, कर्ण, त्वचा, हाथ, पैर, मुंह, पायु और उपस्थ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।

यह अलौकिक गुणमयी भगवान् की माया बड़ी दुस्तर है; किन्तु फिर भी यदि भगवान् के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति उत्पन्न हो तो इस दुस्तर माया—सागर को पार करके जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त कर सकता है, और वही पथ भारत का सनातन योग—धर्म है जीव की तीन अवस्थाएं हैं—अविद्या तत्वाश्रित है। तत्वातीत चैतन्य ही ज्ञान है— यह ज्ञान विश्लेषण करने की वस्तु नहीं, अविद्या दूर होने पर ही मिलता है, और ज्ञान का प्रकाश होने पर ही जीव की मुक्ति होती है। ज्ञान प्राप्त करने के लिये सबसे पहले वस्तु विश्लेषण की आवश्यकता है। वस्तु से मतलब है तत्व वस्तु से; तत्व की विकृति जो पञ्चभूत है, उनकी गुणसमष्टि अन्तःकरण है। अन्तःकरण को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं; एक भाग मन और दूसरा बुद्धि। मन की वृत्ति संशयात्मिका है, बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है। इस बुद्धि योग से ही योग का सूत्र आरम्भ हुआ है।

साधना के आरम्भ में देहशुद्धि की आवश्यकता है देह की शुद्धि वैदिक आचार का त्याग करने से नहीं होती। भाषा और ढंग चाहे जो हो, कार्यतः उस शम—दम आदि सब प्रकार की साधनाओं की जरूरत होती है। बाहर के शौचाचार के साथ अन्तःशुद्धि का अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। अन्तःकरण स्तब्ध होने पर सर्वांग स्थिर होता है, और सिद्धासन पर शरीर को बलात् अचल करके रखने पर अन्तःकरण भी स्थिर होने लगता है। सब एक सूत्र में बंधी हुई चीजें हैं, कोई किसी से पृथक् नहीं; किन्तु बाहर की साधना से आत्मस्वरूप का पता नहीं मिलता, उससे स्वरूप का बोध मात्र होता है; किन्तु बोध होना ही प्राप्ति नहीं है—इसलिये बुद्धियोग साधना की आरम्भिक चीज होने पर भी साधक को इसके ऊपर उठकर खड़ा होना पड़ता है। सब छोड़कर ही साधना का आरम्भ किया जाता है; किन्तु छोड़ने वाली वस्तु का निर्णय हुए बिना छोड़ा क्या जायेगा ? इसीलिये तत्व—विश्लेषण की आवश्यकता होती है। इसी से गीता में भगवान् ने अर्जुन से योग की बात कहने की उपक्रमणिका में सांख्य योग की बात सबसे पहले कही है; किन्तु उससे साधक के मन को सन्तोष नहीं होता। असल चीज तो गड़बड़ झाले में ही रह जाती है अविद्या से मुक्ति प्राप्त करने को ही हिन्दू—शास्त्रों में मोक्ष कहा गया है। साधना करने से आत्मा देह से पृथक् है, यह ज्ञान पैदा होता है। यह केवल बुद्धि ग्राह्य

है। मोक्ष का अभिप्राय है कि उस स्थिति में देहज्ञान के लोप के साथ–साथ सब प्रकार के ज्ञान का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी से गीता के दूसरे अध्याय में मोक्ष साधन की बात कहते–कहते जब श्री कृष्ण ने यह कहा–

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।

तब अर्जुन ने विस्मित होकर सोचा–मोक्ष साधन धर्म का उपदेश देते–देते भगवान् किस कारण से हिंसात्मक कर्म को विहित बतलाने लगे ! उन्हें कर्म की प्रशंसा करके उपसंहार में ब्रह्मज्ञाननिष्ठा के प्रशंसावाद में वक्तव्य समाप्त करते हुए देखकर अर्जुन के संशयात्मक मननें स्वभावत: प्रश्न किया–

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।

अर्जुन ने भगवान् को 'जनार्दन' शब्द से सम्बोधित किया। **अर्द्** धातु का अर्थ है वध करना; समुद्र के अन्दर रहने वाले जन नामक असुर का उन्होंने वध किया था; इसका असल अर्थ है– **जनं जन्म अर्दयति हन्ति**; जो भक्त को मुक्ति देने वाले हैं वह हैं **जनार्दन**। हमारा जन्म और जन्ममूलक कारण अशुद्ध हैं; इसी कारण जन्म होते ही संस्कार और वासना विक्षुब्ध होकर इस बात की विस्मृति पैदा कर देते हैं कि हम अमृत के पुत्र हैं; हम भागवत–ज्ञानविहीन कीड़े की भाँति जीवन धारण करते हैं। इसीलिये जो अयाचित करुणावश जन्म और जन्ममूलक कारणगत अशुद्धि दूर करके हमें दिव्य जन्म प्रदान करते हैं, उन्हें हम जनार्दन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे ? अर्जुन ने श्रीकृष्ण के कथन का मर्म नहीं समझा; इसी से सोचा कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है– और भगवान् अपना यह मत प्रकट कर चुके; किन्तु पुन: हिंसात्मक कर्म में प्रवृत्त करते हैं– तो क्या घटनाक्रम से यह अनिवार्य हो उठा है जो इस प्रकार मिश्रित उपदेश–वाक्यों का प्रयोग कर रहे हैं ? मनुष्य की क्षुद्र बुद्धि जब तक बृहत् के साथ संयोग नहीं प्राप्त कर लेती तब तक वह ऊपर के निर्देशको अपने संस्कार से मिलाकर स्थिर करता है और उसके अनुसार ही जीवन नियन्त्रित करने के लिये अग्रसर होता है– यही धर्म हमारा सनातन धर्म है। इसके अतिरिक्त, भारत की मनोवृत्ति ने बहुत दिनों से शास्त्रदि का अर्थ जिस रूप में ग्रहण करना आरम्भ किया है, अर्जुन उसके प्रभाव से भी मुक्त नहीं थे। 'कर्म जीवन का बन्धन है, "कर्म वासना का जाल बुनकर जीव के मोक्ष का मार्ग रोक देता है'– यह परम्परा से प्रचारित होता आ रहा है; इसी कारण श्रीकृष्ण चन्द्र ने जब मोक्ष साधन के अनुकूल शास्त्र–निर्देशित चिरप्रचलित उपदेश सुनाया तब उसे समझना अर्जुन के लिये कठिन नहीं हुआ–क्योंकि यही प्रचलित धर्मोपदेश है; किन्तु उसके बाद ज्यों ही उन्होंने कहा–

सुखदु:खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। *(गीता २/३८)*

—त्यों ही अर्जुन के सिर पर मानो वज्रपात—सा हो गया। कर्म करने पर यदि पाप नहीं होता तब फिर जीवन के भवबन्धन का और क्या कारण है ? कर्मबन्धन के भय से ही तो भारत के तत्वज्ञानियों ने इससे विमुख होकर ब्रह्मसमाधि प्राप्त करने के प्रशस्त पथ की यात्रा की है। कर्म—प्रेरणा के मूल में मनुष्य की इच्छा वर्तमान रहती है; कोई भी कर्म वासना के संकेत के बिना नहीं हो सकता। कुरुक्षेत्र के युद्ध में जो भारत के राजा उपस्थित हुए थे, उनका उद्देश्य अपनी स्वार्थरक्षा करने के सिवा और क्या हो सकता है ? कामना विसर्जन के साथ—ही—साथ कामनाओं से दूषित हुए देह, प्राण, मन आदि का त्याग करना पड़ता है, इसी मार्ग से महात्मा गण यात्रा करते हैं— श्रीकृष्ण चन्द्र ने इसी श्रेय पथ का अर्जुन को उपदेश दिया। तब फिर बन्धन—सृष्टि के उपायस्वरूप 'कर्म' की प्रशंसा क्यों की ? अर्जुन के मन में प्राचीन कर्म—संस्कार दृढ़ होने के कारण यह प्रश्न उनके लिये अत्यन्त स्वाभाविक था। समूची गीता में इसी प्रश्न के उत्तर के बहाने श्री कृष्ण ने एक सिद्ध योग की घोषणा की है यह **सिद्धयोग** ही आत्मसमर्पण है। भारत के वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, यहाँ तक कि वस्तुविज्ञान, चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन भी दिग्दर्शक यन्त्र के सिवा और कुछ नहीं है। भारत का कोई भी धर्मग्रन्थ साधन विरुद्ध या आपस में एक—दूसरे का विरोधी नहीं है; जिसे जो दिशा दिखानी थी, उसने उसी भाग पर प्रकाश डाला है; सब दिशाओं को देखकर तत्वज्ञ पुरुष निश्चित सरल पथ से भारत का सनातन धर्म प्राप्त कर सकते हैं। हम लोगों को स्मरण रखना चाहिये कि आर्य—योद्धा श्रीकृष्ण एक बहुत बड़े वैदान्तिक थे, उन्होंने वेदान्त और उपनिषद् के आधार पर ही भावी भारत के सामने सनातन धर्म का विराट् स्वरूप खड़ा किया है। हम आज इस राजमार्ग का अनुसरण करके अबाध गति से अभीष्ट लक्ष्य की ओर यात्रा कर सकते हैं। समय थोड़ा है; इसलिये हम यदि केवल साधन की त्रिधारा को धारण करके ही भागवत संयोग प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं तब हमें सुदीर्घ तत्वों का विश्लेषण करने की क्या आवश्यकता है ? कर्म, ज्ञान और भक्ति— त्रिमार्ग—योग के द्वारा जो साध्यस्वरूप आत्मसमर्पण—योग है, वही श्री कृष्ण कथित गीता के योग के रूप में प्रचारित है। योग भूमि भारत के जातीय जीवन में यह महायोग प्रतिष्ठित हो।

देहधारियों के भोग-विषय, सुख-साधन बादलों में चमकने वाली बिजली की तरह चंचल हैं; मनुष्यों की आयु या उम्र हवा से छिन्न-भिन्न हुए बादलों के जल के समान क्षणस्थायी या नाशवान हैं और जवानी की उमंग भी स्थिर नहीं है। इसलिए बुद्धिमानो ! धैर्य से चित्त को एकाग्र करके उसे योग साधना में लगाओ।

गीता योगशास्त्र है

(लेखक—एक दीन)

योग का यथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियाँ तो योग में विघ्न हैं), बल्कि जीवात्मा का श्री परमात्मा के साथ **योग** अर्थात् मिलन है; अथवा यों कहें कि जिससे दोनों का मिलन या एकता हो वह योग है। श्री मद्भागवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्री परमात्मा की प्राप्ति है। गीता में योग की प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्याय से आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगे के अध्यायों में भी उसी का विकास होता गया है, वे सब योग मार्ग की क्रमशः विभिन्न मंजिलें हैं। श्री परमात्मा के स्वरूप, निवास स्थान और जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का ज्ञान होना इस मार्ग में सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्ग की पहली मंजिल विचार विवेक के द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा—अनात्मा का ज्ञान है, जिसके कारण गीता में सबसे पहले प्राचीन सांख्य योग का उपदेश दिया गया है यह सांख्य योग निरीश्वर वाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर, जो जड़ है, वह केवल वस्त्र के समान है। यह संसार चेतन अविनाशी तत्व से व्याप्त है (२/१७) और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसी का अंश है और इन्द्रियों के बाह्य भोगात्मक विषय दुःख मूलक है (२/१४); इनके भोगात्मक सम्बन्ध से ही दुःख प्राप्त होता है अतएव कर्म कर्तव्य—पूर्ति और यज्ञ के उद्देश्य से योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदि ऋण परिशोध के निमित्त निष्काम भाव से, अहंकार और ममता को छोड़कर करना चाहिये और कर्म की सिद्धि—असिद्धि में समान रहना चाहिये। यही बुद्धि—योग है (२/३९,४७ और ४८ तथा ३/८,९)। सकाम कर्म बन्धन का कारण है; किन्तु कर्तव्य और यज्ञ—कर्म बन्धन का कारण नहीं। कर्म का त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३/८,९)। यही सांख्य योग के बाद का कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग है। इसकी प्राप्ति योग्यता के निमित्त इन्द्रिय और प्राण—निग्रह आवश्यक है (४/२६,२७)। तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्व शास्त्र के पठन, मनन और निदिध्यासन (४/२८) की आवश्यकता है। अष्टांग योग में ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय—निग्रह), स्वाध्याय और प्राणायाम से भी यही तात्पर्य है। इस अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन मुख्य है, उसमें भी जिह्वा और जननेन्द्रिय का निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियों के विकार काम, क्रोध और लोभ का त्याग भी जरूरी है (३/३७)। इन्द्रियों का निग्रह सांख्य योग के अभ्यास से अर्थात् अपने को शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा हैं, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मा में ही स्थिति प्राप्त करने (३/४३) तथा विषयों से ध्यान हटाने (२/६२, ६३) से सम्भव है। इसके बाद साधक को तत्वदर्शी ज्ञानी गुरु से ज्ञानयोग का उपदेश लेना चाहिये (४/३४)। इस ज्ञानयोग का परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अखिल चराचर समष्टि सृष्टि चेतनमय होने के कारण उसके चेतन आत्मा से अभिन्न है और फिर सब—के—सब परमात्मा में अभिन्न रूप से वर्तमान हैं। यह ज्ञान होने के बाद फिर साधक को मोह नहीं होगा (४/३५)। यह ज्ञान योग कर्मयोग का साधन करके इन्द्रिय निग्रह करने से श्रद्धावान्

पुरुष को प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४/३८,३९)। किन्तु यहाँ तक का ज्ञान बुद्धि के द्वारा केवल निश्चयात्मक है; इसे विज्ञान में परिणत करने से अर्थात् साक्षात् अथवा अपरोक्ष बनाने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस प्राप्ति में मन मुख्य है और मन ही बाधक है। मन उभयात्मक है; यह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समय में हमारा मन बहिर्मुखी होकर इन्द्रियों के कामात्मक विषयों में आसक्त हो रहा है और अज्ञान के कारण उन्हीं को सुख प्राप्ति का साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थ में परिणाम में दुःखदायी हैं। भोग की प्राप्ति के लिये हिंसा, असत्य, स्तेय, अविहित काम–चेष्टा आदि की जाती हैं, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख–शान्ति न मिलने के कारण वह और भी चंचल हो उठता है। अतएव मन का अज्ञान तथा भोगलिप्सा के कारण उत्पन्न राग–द्वेष, मलीनता और चंचलता दूरकर मन को पवित्र, स्थिर और शान्त बनाना आवश्यक है, जिसके बिना यह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यास योग से सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञान के अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यास की आवश्यकता है (६/३४)। इस योग की सिद्धि का मूलतत्त्व इस नाम रूपात्मक संसार के नानात्व को सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्म को देखना और उसी के अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीता में कर्माभ्यास योग नामक छठें अध्याय में श्री भगवान् ने इस योग के मूलमन्त्र को इस प्रकार बतलाया है–

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।३१।।

इन वाक्यों का भाव यह है कि योग में स्थित साधक अनन्त चेतन को सब भूतों में व्याप्त और सब भूतों को उस अनन्त चेतन में व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्व की समान दृष्टि रखता है। श्री भगवान् कहते हैं, जो मुझ परमात्मा को सब में व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूं। जो सब भूतों में व्याप्त मुझ एक को ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहार में रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है। फिर भी भगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टि की केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरण में परिणत करना 'योग' है। ऊपर के श्लोकों के बाद ही यह वचन है–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। *(६/३२)*

जो दूसरों के सुख–दुःख को अपना सुख–दुःख समझता है, वही परम योगी है। स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे हमलोग अपने सुख की वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरों के सुख की भी वृद्धि करने के निमित्त

यत्न करना चाहिये और इसी तरह दूसरों के सुख को भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःख की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं, उसी तरह दूसरों के दुःख को भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्ति के लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःख निवृत्ति को अपनी ही दुःख निवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यास–योग में कर्म–यज्ञ अर्थात् कर्मयोग सृष्टि के हितके लिये अपने स्वार्थ को स्वाहाकर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्मा की सेवा की भाँति उन्हीं के निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित–कार्य और शरीर, मन तथा वाणी की शुद्धि के लिये तपस्या भी यज्ञ पुरुष के निमित्त ही की जाती है; क्योंकि स्वयं श्री भगवान् का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्या का मैं स्वयं भोक्ता हूं और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूं, जो सुहृद् का धर्म है (५/२९)। साधारण परोपकार और योग के परहित–सेवा में भेद यह है कि पहले में उपकृत को अपने से पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योग में उपकृत को पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्काम भाव से उसका हित साधन करते हैं; फिर आगे चलकर उसे श्री परमात्मा का ही रूप मानकर श्री परमात्मा की सेवा की भाँति, फलाकांक्षा से रहित होकर, निरहंकार–भाव से उसका हित साधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करने की शक्ति सब कुछ श्री परमात्मा की है, साधक तो केवल निमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्त पर योग के प्रथम अंग यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह स्थिति हैं। जब सब कुछ परमात्मा का रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्तेय आदि दुर्व्यवहार किसी के साथ करना मानो श्री परमात्मा के ही साथ करना है और इस कारण हिंसा का त्याग कर दूसरों का हित साधन करना; स्तेय का त्यागकर अन्यायपूर्वक किसी भी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरों से दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरों का दान देना योग की मुख्य साधना है। इसी प्रकार सर्वत्र परमात्म भाव रखकर व्यवहार करने का अभ्यास करने से श्री परमात्मा की प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्री मद्भागवत में कहा है–

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ *(११/२९/१९)*

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भाव का ज्ञान परिपक्व होने से और बाह्य नानात्व पर केवल अभ्यास मानने से विषय–वैराग्य स्वाभाविक ही आ जायेगा और यह वैराग्य ज्ञानमूलक होने के कारण दृढ़ होगा। ऐसे वैराग्य वाले पुरुष को किसी सांसारिक पदार्थ की तृष्णा नहीं होगी वास्तव में तृष्णा और राग–द्वेष के कारण ही मन चंचल रहता है, और वैराग्य द्वारा इनकी निवृत्ति हो जाने पर मन का आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है इसी निमित्त गीता के उसी छठे अध्याय में आदेश है कि मन को आत्मा में स्थित करके भावना रहित कर दे और यदि मन आत्मा को छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँ से उसे लौटाकर आत्मा में ही लगावे। सर्वत्र एकात्म भाव बना रखने से मन के विक्षेप को दूर करने में बड़ी सहायता मिलती है। जो भावना मन में आवे, बस, उसीको आत्मा मान ले। इस तरह निरन्तर अभ्यास करने से मन अवश्य शान्त हो जायेगा। यही अभ्यास योग है; इसी से मन की चंचलता दूर होती है जो पातंजलियोग सूत्र का मुख्य ध्येय है। वहाँ भी अभ्यास और वैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं। ऊपर कथित गीता का वचन इस प्रकार है–

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। (६/२५–२६)

उक्त अध्याय के १४ वें श्लोक में योग की प्राप्ति के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता बतलायी गयी है। वास्तव में योग के लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य योग के प्रथम अंग यम के अन्तर्गत है। आत्मा में मन के स्थित हो जाने पर आत्मा के आनन्द की उपलब्धि होती है और यह महान् सुख इन्द्रियातीत है, केवल बुद्धिग्राह्य है (६/२१)।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्य का लक्ष्य है, हो जाने से ही योग के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती। इस आत्मानन्द को भी अतिक्रम करना चाहिये। इसलिये श्री भगवान् का कथन है कि श्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे साथ संलग्न हो (६/४७)। अतएव अब योग के मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये। मन को अपने आत्मा में लय करके अब आत्मा को श्री भगवान् में अर्पित कर देना चाहिये। इसी आत्मार्पण का दूसरा नाम शरणापन्न होना है। इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्री भगवान् के कौन–से निवास और भाषा में आत्मार्पण किया जा सकता है। श्री भगवान् के विराट् व्यापक विश्व रूप के भाव में अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विच्छिन्न शरीर में रहने वाले जीवात्मा के लिये कदापि सम्भव नहीं है। तब यह सम्भव कैसे होगा ? इस जटिल समस्या को स्वयं श्री भगवान् ने गीता में ही हल कर दिया है। उन्होंने कहा है कि मैं सब भूतों के हृदयों में हूँ (१३ / १७; १५ / १५; १८/६१)। इस हृदयस्थ ईश्वर में ही आत्मार्पण–योग करना होगा–यह श्रीभगवान् ने गीता में स्पष्ट शब्दों में कहा है। अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना वास सब भूतों के हृदय में बतलाकर उसके बाद के श्लोक में कहते हैं–

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीर से उस हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाओ, जिसके बाद उसकी कृपा से परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी। यही अन्तिम साधना भक्ति योग है। इस योग में पहले यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि परमात्मा ने जीवात्मा का त्राण करने के लिये कृपा करके अपने को हृदय में कैदी की भाँति बना रखा है, जिसमें उसको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था। यह श्री भगवान् की असीम कृपा जीवों के लिये है। इस कारण भी जीवात्मा का श्री भगवान् में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये। इसी निमित्त श्री भगवान् का जीवात्मा के साथ पिता–पुत्र, सखा और प्रेमपात्र, प्रियतम और प्रेमी का सम्बन्ध है (११/४४)। यह प्रेम–सम्बन्ध भक्तियोग में मुख्य है। इस योग की प्राप्ति किस आश्रय का अवलम्बन करने से होगी, इसका वर्णन ७ वें अध्याय में है। वहाँ पर

दो प्रकृतियों का, पञ्चभूत और अन्तःकरण चतुष्टय का अपना जड़ प्रकृति के रूप में और इसके परे जो चैतन्य जीव–शक्ति है, उसका परा प्रकृति के रूप में वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैवी प्रकृति भी है।

श्री भगवान् की प्राप्ति राज विद्या अर्थात् प्राचीन राजयोग के द्वारा होती है, इसका उल्लेख गीता के ९वें अध्याय में है। श्री भगवान् का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अभ्यास में सुखदायी (हठयोग के समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (९/२)। उक्त अध्याय के १३ वें श्लोक में श्री भगवान् ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समष्टि जीव–शक्ति) का आश्रय कर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्ति का उपाय गीता के १२ वें अध्याय में उन्होंने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि हृदय में सगुण साकार भाव की उपासना की जाय, न कि अव्यक्त की, जो क्लेशकर है। इस भक्तियोग में श्री भगवान् की दैवी प्रकृति का आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है जो अपने दिव्य तेज और प्रकाश से साधक को घेर अविद्यान्धकार से पारकर श्री भगवान् से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पाने के लिये दैवी सम्पत्ति के गुणों को, जिनका वर्णन गीता के १६ वें अध्याय में १ से ३ श्लोक तक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्ति का, जिसका वर्णन उसी अध्याय में ४,७ और ८ श्लोकों में है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोग का लक्षण १२ वें अध्याय में १३ से २० श्लोक तक में बतलाया गया है, उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोग का मुख्य साधन निम्न श्लोकों में कहा गया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। (१२/६/७)

इन श्लोकों का भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मों को, सांसारिक और पारमार्थिक दोनों, श्री भगवान् के कर्म समझकर उनके निमित्त अहंकार, ममता और फल कामना का त्यागकर, करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मन में श्री भगवान् और उनके सम्बन्ध के सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हीं में मन को संनिवेशितकर उपासना–ध्यान करता है, ऐसे चित्त से पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्त का श्री भगवान् शीघ्र माया से उद्धार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही भाव ८ वें अध्याय के १४ वें श्लोक का भी है, जो इस प्रकार है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।

इस भक्तियोग में सब प्रकार के कर्मों का अर्पण, उपासना अर्थात् शरीर, वचन से कर्म करते हुए तैलधारा के समान मन से सतत निरन्तर ईश्वर स्मरण, चिन्तन और ध्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदय में अपने इष्ट की मनोहर दिव्य साकार मूर्ति पर चित्त की धारणा करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्था में भीतर ठीक वैसे ही रूप की भावना करने

के लिये कोई विग्रह अथवा चित्र आवश्यक है। धारणा के परिपक्व हो जाने पर यथार्थ ध्यान प्रारम्भ होगा। वास्तव में यह ध्यान हृदय का कार्य है और जब हृदय प्रेम से द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४ वें अध्याय के २६ वें श्लोक में श्री भगवान् वचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्री भगवान् ही को सर्वस्व समझना और उन्हीं को सर्वार्पण करना) से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत हो जाता है। गुणातीत का लक्षण उसी अध्याय के श्लोक २२ से २६ तक में है। इस भक्ति योग की अन्तिम साधना का क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है–

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।
विविक्त सेवी लव्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्वतः।
ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। (१८/५१–५५)

यह कथन गीता के योग का सार है। इस कथन में सद्गुणों में इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विषय–वैराग्य और अहंकार, ममता, काम, क्रोध, परिग्रह आदि का त्याग मुख्य है। इन सद्गुणों की पूर्ण प्राप्ति से यहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्ति के संयोग से ही होती है (परं दृष्ट्वा निवर्तते); तथा साधना के रूप में प्रेमोपहार के समान सब कर्मों को श्री भगवान् के निमित्त करना, प्रेम से श्री भगवान् का सतत स्मरण, और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोग का अभिन्न स्वरूप है। इसलिये ध्यान के साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये। योगसूत्र में लिखा है— **तज्जपस्तदर्थभावनम्।**

यह ध्यानयोग ध्याता ध्येय और ध्यान तीनों का योग (एकता) करता है, जो योग का अन्तिम लक्ष्य है। पातञ्जलयोग सूत्र में भी ध्यान से समाधि की प्राप्ति की बात कही गयी है। गीता के इस परम ध्यान के बाद कर्मफल का त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्म का फल जो मोक्ष है उसका त्याग (संन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेने से भगवत्सेवा छूट जायेगी। वह तो प्रेम के कारण, निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्री भगवान् की सेवा में रत रहना चाहता है। इसी से उसको परम शान्ति मिलती है (१२/१२) जो मोक्ष से भी ऊपर की स्थिति है।

('कल्याण' से साभार)

सूर्य नमस्कार

डॉ. ऋषिराज वाशिष्ठ

सूर्य नमस्कार यौगिक व्यायामों में सर्वश्रेष्ठ है ब्रह्माण्ड में सूर्य को ही महाशक्तिशाली आदिदेव माना गया है हमारे ऋषि मुनियों ने सूर्य उपासना को धर्म एवं संस्कृति का अभिन्न अंग बना दिया है। शास्त्रों में उल्लेख है कि सूर्य सृष्टि के समय १२ कलाओं में पाया जाता है तथा विनाश के समय १६ कलाओं में परिपूर्ण होता है। इसलिए ऋषिगण सूर्य नमस्कार १२ प्रक्रियाओं में करते है। सूर्य नमस्कार योगासनों और प्राणायाम का सम्मिश्रण है। इस प्रकार यह शिथिलीकरण व्यायाम और योगासनों के बीच आता है। और देह को लचीला करके आगे को आसनों और प्राणायाम के लिये तैयार करता है। इसे सामान्यतः सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अधोलिखित मन्त्र का पाठ करके किया जाता है।—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।
तत् त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

हे सूर्य ! पात्र के ढक्कन की भाँति तुम्हारा स्वर्णिम पिण्ड सत्य के प्रवेश द्वार को ढंकता है। मुझे सत्य तक पहुँचाने के लिए कृपाकर अपना द्वार खोलो।

सूर्य नमस्कार का हर चक्र समुचित बीजमन्त्र और सूर्य के नाम सहित ॐ के उच्चारण के बाद किया जाता है—

१. ॐ ह्रां मित्राय नमः	२. ॐ ह्रीं रवये नमः
३. ॐ ह्रूं सूर्याय नमः	४. ॐ ह्रैं भानवे नमः
५. ॐ ह्रौं खगाय नमः	६. ॐ ह्रः पूष्णे नमः
७. ॐ ह्रां हिरण्यगर्भाय नमः	८. ॐ ह्रीं मरीचये नमः
९. ॐ ह्रू आदित्याय नमः	१०. ॐ ह्रै सवित्रे नमः
११. ॐ ह्रौं अर्काय नमः	१२. ॐ ह्रः भास्कराय नमः

सूर्य नमस्कार की प्रत्येक अवस्था सांस के नियमन के साथ की जाती है। सूर्य नमस्कार के पद निम्न प्रकार है—

प्रथम अवस्था—इसमें जमीन पर दोनों पैरों को आपस में मिलाकर खड़े होते हैं व दोनों हाथों को वक्ष/स्थल पर, मिलाते हुए सूर्य नमस्कार करते हैं।

द्वितीय अवस्था—जमीन पर खड़े होकर पैर से कमर तक के हिस्से को सीधा रखते हुए कमर से ऊपरी भाग और दोनों हाथों को पूर्ण तथा तान कर श्वांस लेते हुए पीछे ले जाते हैं।

तृतीय अवस्था—पैर से कमर तक के हिस्से को सीधा रखते हुए दोनों हाथों को द्वितीय अवस्था से श्वांस छोड़ते हुए नीचे लाते है जमीन पकड़कर मस्तक को घुटनों से लगाते हैं।

सूर्यनमस्कार के बारह पद

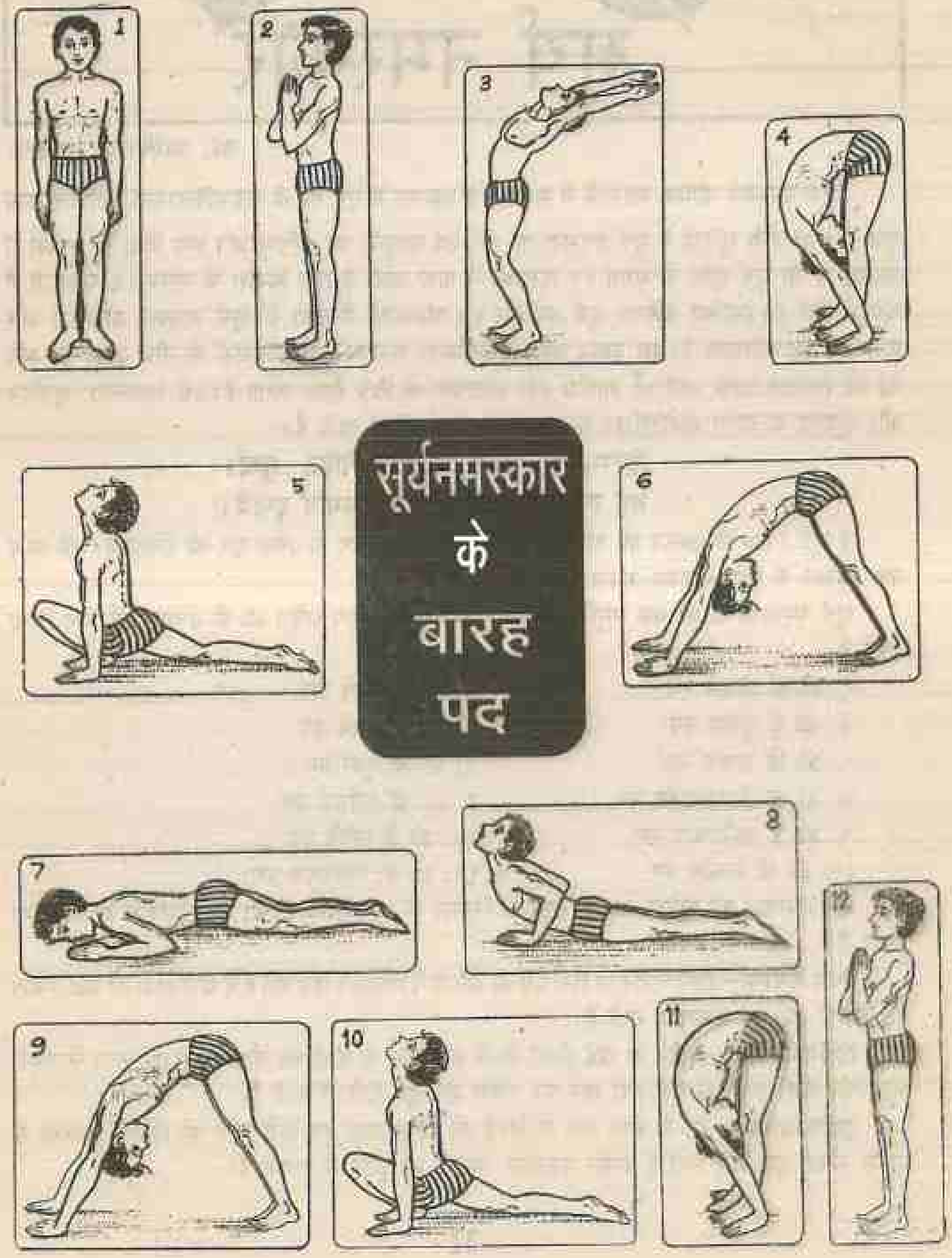

चतुर्थावस्था—दोनों हाथों को जमीन पर स्थापित करके बायें पाँव को पूर्णतया पीछे लाकर और दांयें पाँव को मुड़े हुए रखकर कमर से ऊपर के भाग को पीछे की ओर खींचते हैं।

पंचमावस्था—इसमें बाँयें पाँव को पीछे फैलाकर दाँयें पाँव को मोड़कर हाथों को पूर्णतया ऊपर खींचते हुए कमर से ऊपर भाग को यथा साध्य पीछे झुकाकर स्थित करते हैं।

षष्ठावस्था—इसमें चर्तुथावस्था की भाँति करते हैं बस बाँयें पाँव का स्थान दाँया लेता है और दाँयें के स्थान पर बाँया पैर मुड़ता है।

सप्तमावस्था—इसमें भी पंचम अवस्था की तरह दोनों हाथों को खींच–खींच कर पीछे की ओर ले जाते है शरीर के ऊपर के हिस्से को यथा सहाय पीछे ले जाते हैं।

अष्टमावस्था—दोनों पाँव व दोनों हाथों को जमीन पर स्थापित करके कमर के हिस्से को यथा साध्य पीछे खींचते हुए ऊपर की ओर उठाते हैं।

नवमावस्था—अष्टमावस्था बना एक दण्ड लेते है जिसमें दोनों हाथ पाँव दोनों पाँव के बल शरीर को जमीन से कुछ ऊपर थमाते हैं।

दशमावस्था—इसमें जमीन पर लेटकर दोनों हाथों और दोनों पाँवों के पंजों पर सम्पूर्ण शरीर का भार देते हुए कमर से ऊपरी भाग को पीछे खींचते हुए यथा साध्य ऊपर उठाते हैं।

एकादशावस्था—यह अवस्था द्वितीय अवस्था के समान है।

द्वादशावस्था—यह अवस्था प्रथम अवस्था की भाँति सूर्य को अन्तिम नमस्कार करने हेतु है।

लाभ—आधुनिक समय में सूर्य नमस्कार को लोकसिद्धि का विशेष कारण माना जाता है प्रातःकालीन सूर्य की नूतन किरणों से विशिष्ट किरणें निकलती हैं जिससे सम्पूर्ण त्वचा रोग नष्ट हो जाते हैं इसके साथ–साथ सूर्य से निकलने वाली किरणों से भी लाभकारी किरणें निकलती है जिससे हम साग सब्जियों में बहुत कम मात्रा में प्राप्त कर सकते हैं।

सूर्य नमस्कार करने से आन्तरिक ग्रन्थियों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है छोटी आंत तथा बड़ी आंत पर अच्छा प्रभाव पड़ने से कब्ज अपच वायु विकार आदि की शिकायत दूर होती है जठराग्नि प्रदीप्त होती हैं और भोजन अच्छी प्रकार से पचता है।

इससे शरीरगत सभी आशयों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है इसके अतिरिक्त यकृत प्लीहा के लिए अच्छा व्यायाम है। सूर्य नमस्कार करने से आसन प्राणायाम एवं मुद्रा सभी के लाभ मिल जाते हैं गुप्त रोगों का निदान होता है।

इसको करने से फेफड़ो में शुद्ध वायु का प्रचुर मात्रा में प्रवेश होता है फलस्वरूप फेफड़ों सम्बन्धि बीमारी जैसे दमा टी.बी. आदि का निदान होता है इसके अभ्यासी का शरीर सूर्य के समान चमकने लगता है कमर पतली और सीना चौड़ा होता है समस्त भुजा जंघा पिण्डली पुष्ट होती है एवं असीम बल प्राप्त होता है इससे मेरुदण्ड में लचीलापन आता है जिस कारण आयु में वृद्धि एवं मेरुदण्ड सम्बन्धि समस्त रोग दूर होते हैं। सूर्य नमस्कार के अभ्यास से नेत्र की ज्योति की वृद्धि होती है उसके साथ–साथ मानसिक सन्तुलन एवं मानसिक शान्ति प्राप्त होती है सूर्य नमस्कार उपासना की उपासना है और व्यायाम का व्यायाम है। यह ब्रह्मचर्य का अचूक साधन है।

सावधानियाँ—सूर्य नमस्कार प्रातःकाल ही करने चाहिये। सूर्य नमस्कार को रोगियों को नहीं करना चाहिये। गर्भवती महिला ३ मास तक कर सकती है।

काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा

भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्त्या।

संयोग एसां न त्वात्मभावा

दात्माप्यनीश: सुखदु: खहेतो:।।

(श्वेताश्र्वतरोपनिषद् अध्याय १/२)

क्या काल, स्वभाव, निश्चित फल देने वाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत या जीवात्मा कारण है ? इस पर विचार करना चाहिये; इन काल आदि का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वे चेतन आत्मा के अधीन हैं (जड़ होने के कारण स्वतन्त्र नहीं है) जीवात्मा भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख–दु:खों के हेतुभूत प्रारब्ध के अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है।

नेव स्त्री व पुमानेष न चैवायं नपुंसक:।

यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।

अर्थात्

यह जीवात्मा न तो स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है। वह जिस–जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस–उस से सम्बद्ध हो जाता है।

शोक समाचार

झाँसी। विलम्ब से प्राप्त समाचार के अनुसार सेवाव्रती समाजसेवी श्री दत्तात्रय बालकृष्ण कात्रे गत ९ जून १९९८ को सायं ७.३० बजे चिरनिद्रा ग्रहण कर श्री गुरुदेव के चरणों में लीन हो गये। वे सेवानिवृत्ति के उपरान्त समाज की सेवा का भाव अंगीकृत करके निरन्तर अपने ध्येय पथ पर अग्रसित रहे। स्व० कात्रे श्री गुरुदेव के अनन्य भक्त थे।

'सिद्धयोग' को एक और आघात झाँसी निवासी श्री जनक प्रसाद द्विवेदी की मृत्यु का भी सहन करना पड़ा है। श्री सद्गुरुदेव ने गत १४ जुलाई १९९८ को अपनी अजय गोद प्रदान की। श्री गुरुदेव के अनन्य निष्ठ शिष्य स्व० द्विवेदी जी इस पत्रिका के लिए अपनी रचनायें प्रेषित कर निरन्तर सहयोग देते रहे। उन्होंने ब्रह्ममुहूर्त में प्रात: ४ बजे 'स्वयं' शब्द का उच्चारण करते हुए शरीर छोड़ा।

'सिद्धयोग' परिवार अपने पाठकों को एक ओर जहाँ इन शोक समाचारों को देते हुए दु:खी है; वहीं परमपिता से शोक संतप्त परिवारीजनों को धैर्य धारण करने की शक्ति देने की प्रार्थना करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था.......

क्रमविकासवाद

आकाश और प्राण–तत्वों का अव्यक्त रूप से व्यक्त रूप में प्रक्षेपण होने, और पुनः अव्यक्त रूप में लौट आने के विषय में भारतीय दर्शन और आधुनिक विज्ञान में बहुत कुछ समानता है आधुनिक लोग विकासवाद को मानते हैं, और योगियों का भी यही मत है। परन्तु मेरी राय में, योगियों द्वारा विकासवाद की जो व्याख्या की गयी है, वह अधिक अच्छी है। **जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्**–अर्थात् एक योनि से दूसरी योनि में परिवर्तन प्रकृति की पूरक प्रक्रिया द्वारा होता है। मूलभूत बात यह है कि हमारा एक योनि से दूसरी में परिवर्तन होता रहता है, और मनुष्य–योनि सर्वश्रेष्ठ है। पतंजलि ने **प्रकृत्यापूरात्** अर्थात 'प्रकृति की पूरक प्रक्रिया' को किसानों के खेत सींचने की उपमा देकर समझाया है। हमारी शिक्षा और प्रगति का उद्देश्य केवल मार्ग की बाधाओं के हटाना है इनके हट जाने पर मूल ब्रह्मभाव स्वयं ही प्रकाशित हो जायेगा। यह मान लेने पर फिर जीवन–संग्राम का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जीवन में साधारण रूप से केवल दुःखमय अनुभव ही होते हैं, जिनको सम्पूर्ण रूप से हटाया जा सकता है; उन्नति या विकास के लिए उनकी आवश्यकता नहीं। यदि वे न भी होते, तो भी हमारी उन्नति होती। अपने आपको अभिव्यक्त करना वस्तुओं का स्वभाव ही है। गतिशीलता बाहर से नहीं, किन्तु भीतर से आती है प्रत्येक आत्मा सार्वजनिक अनुभवों की समष्टि होती है, जिसमें वे पहले ही से बीजरूप में विद्यमान रहते हैं; अनुभवों की इस समष्टि में से केवल वे ही व्यक्त हो पाते हैं, जिन्हें उपयुक्त परिस्थितियाँ प्राप्त होती है।

मैं समझता हूँ कि केवल पतंजलि का सिद्धान्त ही ऐसा है, जिसे विवेकशील मनुष्य मान सकता है। वर्तमान व्यवस्था से कितने दोष उत्पन्न होते हैं ! इसके द्वारा प्रत्येक दुष्ट मनुष्य को दुष्टता करने की अनुमति सी प्राप्त है। मैंने अमेरिका में ऐसे भौतिकी वैज्ञानिकों को देखा है, जो कहते हैं कि 'अपराधियों को नेस्त–नाबूद कर देना चाहिए, और यह कि केवल यही एक ऐसा उपाय है, जिससे समाज से अपराध मिटाया जा सकता है।' ये परिस्थितियाँ विकास में बाधा डाल सकती हैं, परन्तु उसके लिए आवश्यक नहीं है। प्रतियोगिता की सबसे भयानक बात तो यह है कि कोई एक व्यक्ति परिस्थितियों पर भले ही विजय प्राप्त कर ले, पर जहाँ एक की जीत होती है, वहाँ सहस्रों का नाश भी हो जाता है। अतएव यह बुराई ही है। जिससे केवल एक को सहायता मिले और अधिकांश को बाधा पहुँचे, वह कभी अच्छा नहीं हो सकता। पतंजलि कहते हैं कि ये संघर्ष केवल हमारे अज्ञान के ही कारण हैं, अन्यथा न तो इनकी आवश्यकता है और न ये मानव–विकास के कोई अंश ही हैं। यह हम लोगों की अधीरता है, जो इनका सृजन करती है। हममें इतना धैर्य नहीं कि अपना मार्ग धीरता से तैयार करें उदाहरणार्थ, नाटकघर में जब आग लग जाती है, तो थोड़े से ही, लोग बाहर निकल पाते हैं। बाकी सब जल्दी निकलने की धक्का–धुक्की में एक दूसरे को कुचल डालते हैं। नाटकघर की इमारत की अथवा जो दो–तीन व्यक्ति बचकर बाहर निकल पाये, उनकी रक्षा के लिए वह कुचलना आवश्यक नहीं था। यदि सब धीरे–धीरे निकले होते, तो एक को भी चोट न लगती। यही हाल जीवन में भी है। द्वार हमारे लिए खुले पड़े हैं, और हम सब बिना किसी प्रतियोगिता या संघर्ष के, बाहर निकल सकते हैं; किन्तु फिर भी हम संघर्ष करते हैं। हम अपने अज्ञान से, अपनी अधीरता से संघर्ष की सृष्टि कर लेते हैं; हम बड़े जल्दबाज हैं–हममें धीरज बिल्कुल है ही नहीं। शक्ति की उच्चतम अभिव्यक्ति है अपने को शान्त रखना और स्वयं अपने पैरों पर खड़े होना।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ---------------------------------

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्रोति य इह नानेव पश्यति ।।

(कठोपनिषद वल्ली १/१०)

जो परब्रह्म यहाँ है वही वहाँ परलोक में भी है जो वहाँ है वही यहाँ इस लोक में भी है वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को अर्थात् बारंबार जन्म-मरण को प्राप्त होता है जो इस जगत् में उस परमात्मा को अनेक की भाँति देखता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक–विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवांई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326